॥ ओ३म् ॥

प्रार्थना-पुष्पाञ्जलि

वेद मंत्रों के आधार पर
वैदिक प्रार्थनाएं एवं
सारगर्भित निबन्ध

—लेखक
डा० रामनाथ वेदालंकार
(अध्यक्ष दयानन्द पीठ, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़)

प्रकाशक
दयानन्द संस्थान
वेद मन्दिर, नई दिल्ली-११०००५

जन-ज्ञान प्रकाशन का २५८वां पुष्प

प्रकाशक :
पंडिता राकेशरानी
अध्यक्ष, दयानन्द संस्थान, वेद मन्दिर
१५६७, हरध्यान सिंह मार्ग
करौल बाग, नई दिल्ली-११०००५
दूरभाष : ५६२६३६/५६६८६१

लेखक
डा० रामनाथ वेदालंकार
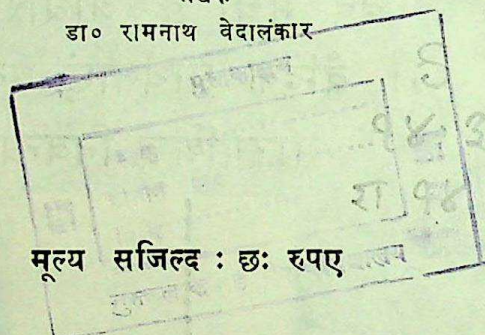
मूल्य सजिल्द : छः रुपए

प्रधान कार्यालय—
दयानंद संस्थान
वेद मन्दिर, शहीद लेखराम नगर
दिल्ली-११००३६
दूरभाष—
८०१२२१
८०१२११

मुद्रक
आर्यधन प्रिंटर्स,
पहाड़ी धीरज, दिल्ली ११०००६

वेद सब
सत्य विद्याओं
का पुस्तक है।
— महर्षि दयानन्द

पृष्ठ सूची

भूमिका

वेद का संदेश

संसार के सभी विद्वान् एक स्वर से यह स्वीकार करते हैं कि संसार के पुस्तकालयों में सबसे पुराना ग्रन्थ 'वेद' है ।

जैसे घर में वृद्ध का सर्वाधिक आदर होता है और उसका आदेश सभी कल्याणकारी समझ शिरोधार्य करते हैं उसी भांति सृष्टि के ज्ञान में वयोवृद्ध होने के कारण 'वेद' के निर्देश सभी के लिए कल्याण का कारण हैं । 'वेद' के अतिरिक्त अन्य जितने भी तथाकथित धर्मग्रन्थ कहे जाते हैं, वे सभी—

१. व्यक्तियों की गाथाओं से भरे हैं ।

२. पक्षपात और देश काल के प्रभाव से युक्त हैं ।

३. विज्ञान और सृष्टिक्रम की प्रत्यक्ष बातों का विरोध करते हैं ।

४. मानव मात्र के लिए समान रूप से कल्याणकारी मार्ग का निर्देशन नहीं करते ।

५. विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा वर्ग विशेष के लिए बनाए गए हैं ।

किन्तु 'वेद' इन सभी बातों से ऊपर उठकर—

१. मनुष्य मात्र को समान समझकर मार्ग का निर्देश करता है ।

२, वह 'सत्य' को सर्वोपरि मानता है ।

३. विज्ञान, युक्ति, तर्क और न्याय के विपरीत उसमें कुछ भी नहीं है ।

४. उसमें किसी देश, व्यक्ति, काल का वर्णन न होकर ऐसे शाश्वत मार्ग का निर्देशन है जिससे मस्तिष्क की सारी उलझी गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं ।

५. वेद, लौकिक, पारलौकिक उन्नति के लिए समान रूप से प्रेरक हैं । उनकी शिक्षाएं सर्वांगीण हैं । इसीलिए आधुनिक युग के महान् द्रष्टा और ऋषि महर्षि दयानन्द ने कहा था--

'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है' । यह भी बताया कि प्रत्येक श्रेष्ठ बनने के इच्छुक व्यक्ति को 'वेद' का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना परम धर्म समझकर शान्ति और आनन्द के मार्ग पर चलने का यत्न करना चाहिए ।

आज के युग के मनीषी अणु और उदजन विस्फोटों की अनन्त शक्ति के विकास के लिए यत्नशील हैं । अन्तरिक्ष की खोज उनके प्रयत्नों की सीमा है । किन्तु 'मनुष्य' जो इस भूमि का 'भोक्ता' है, निरन्तर अशान्ति, चिन्ता और पीड़ा के गह्वर में गिरता जा रहा है । धर्म के नाम पर अधर्म के प्रसार ने विचारकों के मस्तिष्क में धर्म के प्रति तीव्र घृणा भर दी है । वस्तुतः कुरान, पुराण, बाइबिल आदि पुस्तकों ने 'धर्म' को इतने घृणित रूप में उपस्थित किया है कि कोई भी बुद्धिजीवी इन्हें देख कर धर्म नाम को ही छोड़ देता है ।

ऐसी विषम स्थिति में संसार को विनाश और मृत्यु से बचाने के लिए लुप्त होती हुई महान् ज्ञान राशि 'वेद' का पुनरुद्धार कर महर्षि दयानन्द ने मानवता को अमर संजीवनी प्रदान की । धर्म के जर्जर रूप को त्याज्य बताकर 'धर्म' को जीवन

का अनिवार्य अंग बताया और स्पष्टतया यह घोषणा की कि जीवन का उत्थान, निर्माण और शांति-आनन्द का उदात्त मार्ग, केवल 'वेद' की ऋचाओं में वर्णित है। आज युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है कि संसार के मस्तिष्क, बुद्धिजीवी, राजनीतिज्ञ यह अनुभव करें कि विज्ञान और भौतिकता का यह प्रवाह संसार से सत्य और शांति आनन्द को सर्वथा ही समाप्त कर देगा। अतः सभी गम्भीरता से स्थिति को समझें और विचारें कि—

१. यह शरीर ही सब कुछ नहीं। इसमें जो जीवन तत्व, "आत्मा" है, उसकी भूख, प्यास की चिन्ता किये बिना मनुष्य कभी कुछ नही बन सकता।

२. संसार में एक धर्म है—'सत्य'। वह सत्य सृष्टि क्रम, विज्ञान-सम्मत और मानव मन को आनन्द देने वाला है।

३. मनुष्य की केवल एक जाति है—'मनुष्य। मनुष्य और मनुष्य के बीच कोई भी जाति-वर्ण-वर्ग देश की दीवार खड़ी करना जघन्यतम अपराध है। जो भी इन तथ्यों पर विचार करेंगे। वे निश्चित रूप से इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि—

केवल 'वेद' ही ऐसा ज्ञान है जो उक्त मान्यताओं को पुष्ट करता है।

अतः धरती को स्वर्ग बनाने के लिए 'वेद' का प्रचार-प्रसार और उन पर आचरण परमावश्यक है।

'वेद' मनुष्य मात्र के लिए ऐसा मार्ग बताता है जिस पर चल कर जन्म से मृत्युपर्यन्त उसे कोई भी कष्ट न आए। आनन्द और शान्ति जो मनुष्य की स्वाभाविक इच्छाएं हैं उनको प्राप्त कर दुःखों से छुटकारा पाने का सच्चा और सीधा मार्ग वेद' के पवित्र मन्त्रों में स्पष्ट रूप से वर्णित है।

अतः आइए, गम्भीरता से हम जीवन के सच्चे मार्ग को समझें और आनन्द प्राप्त कर कष्टों से मुक्ति पायें।

१०० वर्ष तक जिएं

वेद का प्रथम आदेश है कि प्रत्येक मनुष्य १०० वर्ष सुखी होकर जिए। वेद कहता है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ यजु० ४०।२

'मनुष्य' को चाहिए कि कर्म करता हुआ १०० वर्ष तक जीने की इच्छा करे। उसके लिए इससे भिन्न जीवन का मार्ग नहीं है। ऐसा करने से कर्म-बन्धन मनुष्य को जकड़ता नहीं।'

जीवन की अवधि के अतिरिक्त मन्त्र में कहा गया है कि जीवन का समय काम में गुजारना चाहिए, १०० वर्ष सांस लेते रहना ही पर्याप्त नहीं। काम जीवन की अवधि को बढ़ाने का साधन भी है, परन्तु मन्त्र में जीवन के मूल्य की ओर संकेत किया गया है। कर्मशीलता का महत्व इतना है कि वेद के शब्दों में कर्म करते हुए बिताया हुआ जीवन ही वास्तव में मनुष्य जीवन कहलाने के योग्य है।

जीवन का लक्ष्य

व्यक्ति को कर्म करते हुए १०० वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। कर्म की अपने आप में भी कीमत है, परन्तु मनुष्य रूप में यह जीवन का साधन है।

किन्तु जीवन में जिएं तो कैसे ? वेद कहता है —

ईशा वास्यमिदंँसर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ।।

इस चलायमान संसार में जो कुछ चलता हुआ है, वह सब ईश्वर से आच्छादित है । जो कुछ भोगो, ईश्वर की देन समझकर भोगो । किसी दूसरे के धन का लालच न करो ।

वैदिक दृष्टिकोण के अनुसार संसार का प्रत्येक भाग ईश्वर से आच्छादित है । ईश्वर सर्वत्र व्यापक है और संसार की व्यवस्था उसी की व्यवस्था है ।

यदि सृष्टि में जो कुछ है, ईश्वर की व्यवस्था के अधीन है, तो यह बात तो स्पष्ट है कि मनुष्यों के भोग के सभी सामान ईश्वर की देन हैं । मैं जीने के लिए कुछ खाता पीता हूं । यह सामग्री मैं बनाता नहीं । इसे जगत् में विद्यमान पाता हूं और इसे प्राप्त करके उसी रूप में या थोड़े परिवर्त्तन के साथ प्रयोग में लाता हूं । यही नहीं, इस प्रयोग की योग्यता भी तो ईश्वर की देन ही है अतः सबका उपयोग करते हुए ईश्वर का स्मरण करना चाहिए ।

धन के अच्छे और बुरे उपयोग के लिए निम्नलिखित मन्त्रों में बहुमूल्य शिक्षा दी गई है ।

यदिन्द्र यावतस्त्यवमेतावदहमोशीय ।

स्तोतारमिद् दधिषे रदावसो न पापत्वाय रंसिषम् ।।

—साम० ३:८:८

परमात्मा ! जगत् में जो कुछ है, सब तुम्हारा है । इसमें मैं इतनी सम्पत्ति का स्वामी बनूं कि ईश्वर भक्तों की सहायता कर सकूं, मेरा धन पाप के लिए प्रयुक्त न हो !

श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत ।

वसूनि जातो जनिमान्योजसा प्रति भागं न दीधिमः ।। साम० ३:४:५

'जो कुछ उत्पन्न हो चुका है, जो कुछ उत्पन्न होगा अपने बल सहित, सब परमात्मा का ही है, जैसे सूर्य की किरणें सभी सूर्य से निकलती हैं । अपने-अपने भाग्य को भोगो, जैसे एक पिता के पुत्र करते हैं । इतना ही धारण करने के योग्य है ।"

वस्तुतः प्रत्येक मनुष्य का उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह आप अच्छी तरह रहे, बच्चों को अच्छी शिक्षा से सम्पन्न करके अपने पांव पर खड़ा करके शेष सब कुछ को समाज की सम्पत्ति समझे ।

सफलता

सफल जीवन के लिए कौन-से कर्म उपयोगी हैं, यह वेद में अनेक स्थलों पर बताया गया है । यजुर्वेद के दो निम्नलिखित मन्त्र इस पर कुछ प्रकाश डालेंगे :—

स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व
महिमा तेऽन्येन न सन्नशे ।। (२३ : १५)

'बलवान् आत्मा ! तू अपने शरीर को समर्थ बना, आप यज्ञ कर, आप सेवा कर, तेरी महिमा किसी दूसरे के द्वारा प्राप्त नहीं होगी ।

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु ।
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथाऽसथ ।। (१७ : ४६)

"मनुष्यो ! आगे बढ़ो । शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो । भगवान् तुम्हें अपनी शरण प्रदान करें । तुम्हारी भुजाएं उग्र हों, जिससे कोई तुम्हें हानि न पहुंचा सके ।"

पहला मंत्र व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में कहता है, दूसरे मन्त्र में उस कठोर वातावरण को ध्यान में रखा गया है जिसमें हम सबको रहना होता है । इन्हें इसी क्रम में लें ।

पहले मन्त्र के दूसरे भाग में कहा है कि वास्तव में में व्यक्ति की महिमा या बड़ाई किसी दूसरे की देन नहीं हो सकती । उसके अपने श्रम का फल होती है ।

व्यक्ति का प्रथम काम तो अपने शरीर को बनाना है । पहले माता अपने शरीर से बच्चे का पालन करती है । पीछे उसे अन्न आदि खिलाती है । आगे चलकर वह आप खाने लगता है और अन्त में जो कुछ खाता है, उसे कमाता है ।

दूसरे वेद मन्त्र में स्पष्ट शब्द में आदेश है—

आगे बढ़ो । शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो । तुम्हारी भुजाएं उग्र हों, जिससे कोई तुम्हें हानि न पहुंचा सके । आजकल जिन राष्ट्रों के हाथ में कुछ करने की शक्ति है वे उस आदेश पर अमल करते हैं । जो अशक्त हैं, अहिंसा के गुण गाने में लगे हैं । स्वामी दयानन्द ने अहिंसा का अर्थ 'वैर त्याग' किया है, यही इसका तत्त्व है । मैं तो किसी का शत्रु नहीं परन्तु यदि कोई मुझसे शत्रुता करता है, तो मुझे बताना चाहिए कि इस विशाल दुनिया में जीने का मुझे भी अधिकार है ।

इसी आशय की प्रार्थना निम्न मन्त्र में की गई है—

दृते दृँह मा मित्रस्य मा चक्षुषा
सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।। यजु० ३६ : १८ ।।

दृढ़ बनाने वाले परमात्मा ! मुझे ऐसा दृढ़ बना कि सारे प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें । मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखता हूं । हम सब एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें ।

मन्त्र के अर्थ पर अन्त की ओर से विचार करें । आवश्यकता व्यापक मित्रता और सद्भावना की है । इसके लिए परमात्मा से याचना करते हैं । इस व्यापक मित्रता के लिए मैं अपने व्यवहार में इसे लक्ष्य के रूप में स्वीकार करता हूं और परमात्मा को साक्षी बनाकर कहता हूं कि मैं सबको मित्र भाव से देखता हूं । परन्तु यह तो पर्याप्त नहीं । दूसरों का भी मेरी ओर मित्र भाव होना चाहिए । जीवन में सफलता का यही मार्ग है ।

पारिवारिक जीवन

पारिवारिक जीवन में तीन बातें विशेष विचार के योग्य हैं—

(१) पति-पत्नी का व्यवहार ।
(२) संतान का माता-पिता के प्रति व्यवहार ।
(३) भाई-बहनों में आपस का व्यवहार ।

अथर्ववेद के निम्न दो मन्त्र इस पर उचित प्रकाश डालते हैं :—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यंचः सव्रता भूतवा वाचं वदत भद्रया ॥

(अथर्व० ३ : ३० : २-३)

'पुत्र पिता के अनुकूल चलने वाला हो, माता के साथ एक मन वाला हो। पत्नी पति के साथ ऐसी वाणी बोले जो शहद की मिठास वाली और शान्ति देने वाली हो।

'भाई भाई के साथ द्वेष न करे, बहन-बहन के साथ द्वेष न करे। एक मत वाले, एक व्रत धारण किये हुए हितकर रीति से एक-दूसरे से बातचीत करें।

इन मन्त्रों में दो बातें विशेष रूप से स्पष्ट है :—

(१) पारिवारिक व्यवहार में प्रेम करने का आदेश नहीं दिया, केवल द्वेष से बचने का आदेश दिया है।

(२) हर प्रकार के व्यवहार में मधुर वचन पर जोर दिया है। द्वेष से बचने के सम्बन्ध में पति पत्नी के सम्बन्ध में कहा है कि वे प्रेम से बंधे हैं, उन्हें एक दूसरे के प्रति द्वेष न करने के लिए कहना आवश्यक है।

पति-पत्नी ने दो स्वाधीन जीवनों के स्थान में एक साझा जीवन बनाने का व्रत धारण किया है। एक दूसरे की ओर सद्भावना और दूसरे के दुःख, दर्द को अपना समझना इस व्रत का अंश है। अतः समस्त परिवार मधुरता से, एक दूसरे का अनुगामी, सहयोगी होकर जीवन विताए।

ईश्वर को जानें

ईश्वर की गरिमा के सम्बन्ध में निम्नलिखित वेद मन्त्र बहुमूल्य शिक्षा देता है :—

अन्ति सन्तं न जहाति अन्ति सन्तं न पश्यति ।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥

(अथर्व १० ८ । ३२)

पास बैठे हुए को छोड़ता नहीं, पास बैठे हुए को देखता नहीं। देव के काव्य को देख, जो न कभी मरता है, न बूढ़ा होता है।

मन्त्र के पहले भाग में जीवात्मा के विचित्र व्यवहार के लिए कहा गया है, यह अपने एक साथी प्रकृति से चिपटा हुआ है, उसे छोड़ता नहीं और दूसरे साथी परमात्मा को देखता नहीं। यही सारे रोग का मूल कारण है। एक और वेद मन्त्र में कहा है :—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥

(ऋ० १ । १५३ । २०)

'दो पक्षी. एक दूसरे से युक्त होने वाले सम्बन्धी, एक वृक्ष पर बैठे हैं। उनमें एक (जीवात्मा) वृक्ष के फल को स्वादिष्ट पाकर खाता है, दूसरा (परमात्मा) फल खाता नहीं, केवल देखता है।'

मनुष्य के आत्मिक कल्याण के लिए आवश्यक है कि वह देव के काव्य को देखे। इस काव्य के लिए एक बात यह है कि 'न मरता है और न बूढ़ा होता है।'

'योग' के कई पक्षों में देखा जाता है, कुछ लोग इसे संयोग के अर्थ में ले लेते हैं, कुछ वियोग के अर्थ में। वास्तव में लक्ष्य ईश्वर से संयोग है, प्रकृति से वियोग आवश्यक साधन है। जब तक जीव पास बैठे हुए साथी प्रकृति से चिपटा रहता है उसे दूसरे साथी ईश्वर का ध्यान नही आता। प्रकृति से वियोग होने पर ही ईश्वर से संयोग हो सकता है। पंजाबी में एक कथन प्रसिद्ध है ...

ईश्वर दा की पावणा ? इधरों तोड़ना, उधरों लावणा।

ईश्वर को पाने में क्या कठिनाई है ? प्रकृति से सम्बन्ध तोड़ो और दूसरी ओर कायम कर लो, यही करना है।

वेद मन्त्र में कहा गया है— ईश्वर के काव्य को देखें। इसमें दिखाई क्या देगा ? यह देखने वाली आंख पर निर्भर है। एक आँख फूल के सौन्दर्य को देखती है; दूसरी आकृति, रंग आदि गुणों के अतिरिक्त कुछ नहीं देखती। सृष्टि में जो पहलू एक को प्रभावित करता है, वह दूसरे को नहीं करता। पश्चिम में घड़ी दृष्टान्त बहुत प्रिय था, जो मनुष्य घड़ी को देखता है वह यह मानने को विवश होता है कि घड़ी की बनावट और क्रिया एक प्रयोजन की ओर संकेत करती है और प्रयोजन एक चेतन सत्ता का ही लक्षण है। जगत् में प्रयोजन हर ओर दिखाई देता है, परन्तु जगत् घड़ी से कुछ अधिक है, यह बनते ही पुरानी लगती है, बढती नहीं, इसमें सौन्दर्य का अंश भी नहीं। कुछ विचारकों ने जगत को फूल की उपमा दी। कुछ एक पग और आगे बढ़े, उन्होने घड़ी के प्रयोजन और फूल के सौन्दर्य को मिला दिया और कहा कि जगत् परमात्मा का काव्य है, उसके विचार का स्थूल सुन्दर आकार है। वेद में परमात्मा को मनीषी के साथ कवि भी कहा है।

देव का काव्य, कुदरत का सौन्दर्य, न बूढ़ा होता है न मरता है।
वेद के शब्दों में परमदेव परमात्मा का काव्य न बूढ़ा होता है न मरता है।
इसी तथ्य को प्रकट करते हुए सामवेद (३;१०३) में भी कहा है—

देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान।

देव के काव्य को गहरी दृष्टि से देख संग्राम में जो कल मरा था, वह आज जीता है।

स्वामी दयानन्द ने 'सत्यार्थ प्रकाश' को इन शब्दों में आरम्भ किया है —

"ओंकार शब्द परमात्मा का सर्वोत्तम नाम है, इसमें अ, उ, और म् तीन मिलकर एक (ओ३म्) समुदाय हुआ है। इस एक गाम से परमेश्वर के वहुत नाम आते हैं। जैसे अकार से विराट्, अग्नि और विश्वादि। उकार से हिरण्यगर्भ, वायु और तेजसादि। मकार से ईश्वर, आदित्य और प्रणवादि नामों का वाचक और ग्राहक है। यह प्रभु की अपार महिमा मनुष्य का सच्चा मार्ग दर्शन करती है। ईश्वर को जाने बिना मनुष्य को नहीं जान सकता। अपने लक्ष्य को नहीं समझ सकता और न धार्मिक जीवन ही व्यतीत कर सकता है। इसलिए धर्मपूर्वक कार्य करने के लिये ईश्वर के स्वरूप को समझना चाहिए।

मनुष्य बन

वेद का संसार के प्रत्येत व्यक्ति के इिए एक ही आदेश है कि वह मनुष्य बने । वेद कहता है—

मनुर्भव जनया दैव्यं जनम् । ऋ० १०-५३-६

आज कोई कम्युनिस्ट बनता है तो कोई ईसाई, मुसलमान, बौद्ध या सिक्ख । किन्तु संसार में केवल वेद ही एकमात्र ऐसा धर्म-ग्रन्थ है जो उपदेश देता है कि और कुछ नहीं...तू मनुष्य बन क्योंकि मनुष्य बनने पर तो सारा संसार ही तेरा परिवार होगा । इस उपदेश का सार यह भी है कि वेद संसार के सभी मनुष्यों की एक ही जाति मानता है । 'मनुष्य' जाति । मनुष्य-मनुष्य के बीच की सारी दीवारें मनुष्य को मनुष्य से अलग कर विवाद, युद्ध और द्वेष उत्पन्न करती हैं । 'वेद' शान्ति के लिए इन सभी दीवारों को समाप्त करने का आदेश देता है ।

सभी से मित्रता का आदश देता हुआ 'वेद' कहता है—

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे

सबको मित्र की स्नेह से सनी आँख से देख । कितनी उदात्त भावना है । प्राणिमात्र से प्यार का कितना सुन्दर उपदेश है ।

एकता और सह-अस्तित्व के मार्ग पर चलने की प्रेरणा करता हुआ वेद कहता है —**संगच्छध्वं सवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।**
तुम्हारी चाल, तुम्हारी वाणी, तुम्हारे मन सभी एक समान हों । इस उपदेश पर चलें, तो फिर धरती स्वर्ग कैसे न बने ?

मनुष्यमात्र की एकता के लिए वे का यह भी आदेश है कि "**यत्र विश्वं भवत्येक नीडं**" । हम इस संसार को घोंसला समझें ।

कोई देश, जाति, वर्ग की दीवार मध्य में न हो । सभी कुछ हम मिल कर आपस में बांट कर उपभोग करें ...तो फिर आभाव कैसे रहे ।

अशांति और द्वेष के वर्तमान वातावरण में मनुष्य मात्र के कल्याण के लिये आज यह परमावश्यक है कि सभी विचारक, विद्वान् और राजनीतिज्ञ 'वेद' के महत्त्व को समझें और उसके आदेश पर आचरण करें ।

'वेद' के मार्ग पर चल कर ही यह धरती स्वर्ग बन सकती है, यह एक ऐसा सत्य है जिसे सभी को स्वीकार करना ही होगा ।

आइये, हम सभी 'वेद' को जानने और उस पर आचरण का व्रत लें । वेद का ज्ञान अगाध भंडार है । उसे जानने की भावना आपके हृदय में उत्पन्न हो सके, इस लिए ज्ञान समुद्र में से कुछ चुने हुए मोती हम आपकी सेवा में प्रस्तुत कर रहे हैं । प्रभु हमें शक्ति और प्रेरणा दें कि हम सत्य ज्ञान 'वेद' को जन मानस तक पहुंचाकर शाँति और आनन्द का साम्राज्य सर्वत्र विस्तृत कर सकें ।

प्रभु कैसा है ?

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य वाह्यतः ।। (यजर्वेद ४० : ५)

वह (ब्रह्म)...जगत् उत्पन्न करने के लिए, गतिशून्य प्रकृति को गति देता है परन्तु स्वयं गति में नहीं आता। वह दूर है, वह समीप भी है। वह सब इस सब जगत् के अन्दर और बाहर भी है।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यांरताः॥ (यजु० ४०।२९)

जो कारण प्रकृति=कारण शरीर को (अन्य शरीरों की उपेक्षा करके) सेवन करते वे गहरे,है अंधकार में प्रवेश करते हैं (य+उ) और जो कार्य प्रकृति =सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर में (कारण शरीर की उपेक्षा करके) रमते है, वे उससे भी अधिक अंधकार को प्राप्त होते हैं।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्॥ ओ३म् खं ब्रह्म॥

(यजु० ४०।१७)

सत्य का मुख सुवर्ण=चमकीले पात्र से ढका हुआ है। (इस ढकने से हट जाने से मैं सत्य रूपी ब्रह्म का दर्शन करके और प्रेम में मग्न होकर अपनी सुध-बुध भूल जाने से वही हर जगह मुझे दिखलाई देने लगेगा और प्रत्येक वस्तु उसी के रूप में प्रकट होने लगेगी और उस समय मुझे भान होने लगेगा कि वह)'ओ३म् खं ब्रह्म —सर्वव्यापक ईश्वर, जो उस आदित्य में परिपूर्ण है।

सदैव सत्य की अधीनता

ऋतावान् ऋतजाता ऋतावृधोघोरासो अनृतद्विषः।

तेषा वः सुम्ने सुच्छर्दिष्टमे नरः स्याम ये च सूरयः॥

(ऋग्वेद ७।६६।१३)

(जो मनुष्य) ऋतावान्=सत्य के पक्षपाती ऋतजाता=सत्य की रक्षा करने ऋतावृधः=सत्य की वृद्धि करने वाले और (घोरासः अनृतद्विषः) झूठे के घोर विरोधी वाले हैं (तेषाम् वः) उन (आप) की सुम्ने=शरण में (नरः, स्याम) हम सब मनुष्य होवें (ये, च, सूर्यः) और जो विद्वान् हैं (वे भी उनका आसरा पकड़ें।)

छः शत्रुओं का दमन

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।

सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र॥

(उलूकायतुं) उल्लू कोसमान व्यवहार अर्थात् अंधकार प्रियता=अज्ञान, शुशु लूक यातुम्) भेड़िये का-सा व्यवहार=क्रूरता, (श्वयातु) कुत्ते का सा व्यवहार=अपनी जाति वालों से लड़ना तथा अन्यों के सामने दुम हिलाना=खुशामद करना, (कोक-यातुम्) चिड़ियों का सा व्यवहार=कामातुरता (सुपर्णयातुम्) गरुड़ का सा व्यवहार= अभिमान, (गृध्रयातुम्) गिद्धों के व्यवहार=अन्यों के पदार्थ का लोभ (ये छः अज्ञान क्रूरता, पारस्परिक द्वेष, कामातुरता, अभिमान और लोभ शत्रु हैं इन्हें (इन्द्रः) हे परमेश्वर ! (जहि) मार और दृषटदा इव=पत्थर से मारने के सदृश इन (रक्षः, प्रमृण) राक्षसों को दूर कर—

पाठक अनुभव करेंगे कि 'वेद' के पवित्र मन्त्रों में जो उपदेश दिये गये हैं वे कितने उदात्त और कल्याणकारी हैं।

अतः आइये हम संकल्प लें कि—

१. प्रतिदिन 'वेद' का स्वाध्याय करेंगे।

२. 'वेद' के आदेशों पर चलेंगे।

३. 'वेद' का संसार में प्रसार करेंगे।

वेद के गहरे सागर से अनमोल मोती खोज कर वेद के विख्यात विद्वान् डा० रामनाथ वेदालंकार ने प्रस्तुत ग्रंथ में कुछ हृदयस्पर्शी प्रार्थनाएं और निबंध प्रस्तुत कर सभी के मानस में वेद के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने का सफल प्रयास किया है।

हम इसे पाठकों के हाथों में प्रस्तुत करते हुए गौरव अनुभव करते हैं। हमारा विश्वास है कि इन्हें पढ़ कर सभी के हृदय तार झंकृत होंगे और प्रभु का अमर संगीत सुन कर उनका जीवन पवित्र और उत्कर्ष की ओर अग्रसर होगा।

आचार्य
दयानन्द संस्थान
वेद मंदिर, नई दिल्ली-११०००५

मंगल कामनाओं सहित
वेदभिक्षुः

स्तुता मया वरदा वेदमाता
प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् ।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्ति द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्
मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ।।

अथर्व० १९-७१-१

स्तुति करते हम वेद ज्ञान की,
जो माता है प्रेरक पालक,
पावन करती मनुज मात्र को ।
आयु, बल, सन्तति, यश कीर्ति,
धन, मेधा, विद्या का दान ।
सब कुछ देकर हमें दिया है,
मोक्षमार्ग का पावन ज्ञान ।

प्रार्थना

पुष्पांजलि

. लेखक
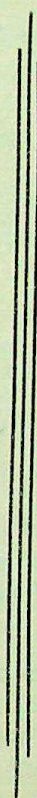
डॉ० रामनाथ वेदालंकार

अध्यक्ष दयानन्द पीठ

पंजाब विश्वविद्यालय

चंडीगढ़

उपासना का आनन्द

उप त्वाग्ने दिवे दिवे, दोषावस्तर्धिया वयम् ।
नमो भरन्त एमसि ।। ऋ० १.१.७

अर्थ—(अग्ने) हे तेजस्वी पथ-प्रदर्शक प्रभो, (वयम्) हम सब (दिवे दिवे) प्रतिदिन (दोषावस्तः) सायं-प्रातः (धिया) ध्यान द्वारा (नमो भरन्तः) नमस्कार की भेंट लाते हुए (त्वा) तेरी (उप-एमसि) उपासना करते हैं ।

ऋग्वेद के इस मन्त्र में भक्तजन भगवान् के प्रति अपने हृदयोद्‌गार प्रकट करते हुए कह रहे हैं कि हे प्रभो, हम प्रतिदिन सायं-प्रातः आपकी उपासना करते हैं । 'उपासना' का अर्थ है समीप बैठना (उप—समीप, आसना—बैठना) । एवं प्रभु की उपासना का अर्थ हुआ प्रभु के समीप बैठना । हम सभी मनुष्य कभी न कभी प्रभु के समीप बैठने की स्थिति में होते हैं । प्रयत्न से ऐसी स्थिति भी लाई जा सकती है कि हम जब चाहें तब प्रभु के समीप बैठ जाएं । मैं यहाँ दार्शनिक भाषा नहीं बोल रहा । दार्शनिक दृष्टि से तो प्रभु सदा ही हमारे समीप है और हम उसके समीप हैं, क्योंकि वह सर्वव्यापक है । परन्तु यदि हम उसके सान्निध्य का अनुभव नहीं करते तो वह समीप होता हुआ भी हमसे दूर है । इसीलिए तो उपनिषद् के ऋषि ने गाया है—"तद् दूरे तदु अन्तिके"—वह दूर भी है और समीप भी है ।

विद्वान् लोग कहा करते हैं कि उपासना योग की समाधि अवस्था में होती है, और वे ठीक ही कहते हैं । पर मैं उनकी बात का खण्डन न करता हुआ भी सर्व-साधारण से यह कहना चाहता हूं कि उपासना को योगियों के लिए ही सीमित न समझिए । आप और मैं सभी उपासना का आनन्द ले सकते हैं, भले ही हम योग-समाधि की उच्च स्थिति तक न पहुँचे हों ।

हम सब प्रतिदिन प्रातः-सायं सन्ध्योपासना करते हैं, प्रभु के साथ मिलने का प्रयत्न करते हैं । सर्वप्रथम गायत्री मन्त्र द्वारा शिखा बांधते हुए प्रभु से मिलने की भावना को अपने अन्दर दृढ़ करते हैं । फिर आचमन द्वारा हृदय को पवित्र करते हैं । फिर जल से अंगस्पर्श करते हुए एक-एक इन्द्रिय को निमन्त्रण देते हैं कि प्रभु-मिलन में तुम सहायक होना, बाधक नहीं । फिर मार्जन मन्त्र से सिर, नेत्र, कण्ठ, हृदय आदि सब अवयवों के दोषों को बुहार कर साफ कर देते हैं । फिर प्राणायाम द्वारा बुहारे हुए दोषों को जला कर पवित्रता सम्पादन करते हैं । फिर अघमर्षण मन्त्रों से यह भावना जागृत करते हैं कि प्रभु के पदार्पण के लिए स्वच्छ किए हुए हमारे इस

देव-मन्दिर में यदि कोई पाप डेरा डालने आयेगा तो उसका हम डटकर मुकाबला करेंगे। फिर मनसा-परिक्रमा द्वारा सब दिशाओं की परिक्रमा कर हम देखते हैं कि कहीं कोई शत्रु हमें अपवित्र करने के लिये तथा प्रभु-मिलन में बाधक होने के लिये घात लगाये तो नहीं बैठा है। यदि कोई ऐसा पाप-शत्रु दीखता है तो उसे हम उस दिशा के अधिपतियों, रक्षकों और इषुओं के शिकंजे में कस कर चकनाचूर कर देते हैं। इस प्रकार सर्वात्मना अपने आपको प्रभु-मिलन के लिए तैयार कर उपस्थान मंत्रों से हम प्रभु के सान्निध्य का अनुभव करते हैं। आनन्द-विभोर हो हम पुकार उठते हैं—

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।
पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतम्,
शृणुयाम शरदः शतं, प्रब्रवाम शरदः शतम्,
अदीनाः स्याम शरदः शतं, भूयश्च शरदः
शतात्॥ यजु० ३६-२४

अहा, यह सूर्यसम प्रकाशक प्रभु मेरे अन्दर उदित हो गया है। मैं वैसे ही उसकी समीपता का अनुभव कर रहा हूँ जैसे सामने स्थित वस्तु की समीपता का कोई अनुभव करता है। इस ज्योति के प्रति मैं मुग्ध हूं। इसके प्रकाश में मैं सौ वर्षों तक देखता रहूँ, सौ वर्षों तक जीता रहूं, सौ वर्षों तक सुनता रहूं, सौ वर्षों तक प्रवचन करता रहूं, सौ वर्षों तक अदीन बना रहूं। सौ ही क्यों, सौ से भी अधिक वर्षों तक जीवन की सब क्रियाएं करता रहूँ। केवल मैं अकेला नहीं, हम सभी सौ और सौ से भी अधिक वर्षों तक इन कार्यों को करते रहें।

फिर हम गायत्री मन्त्र का पाठ करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि उपासना की इस वेला में हमने प्रभु के जिस अद्भुत तेज की झांकी पाई है वह तेज हमारी बुद्धियों को नया मोड़ देवे, नई दिशा में प्रेरित कर देवे। फिर हम आनन्द-विह्वल हो प्रभु के चरणों से लिपट जाते हैं—

नमः शंभवाय च, मयोभवाय च।
नमः शंकराय च, मयस्कराय च॥
नमः शिवाय च, शिवतराय च॥ यजु० १६-४१

यह है हमारी दैनिक उपासना का ब्यौरा। पर यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि हम प्रभु की उपासना क्यों करें।

वह माता-पिता है

बालक स्वभावतः अपने माता-पिता के पास बैठने में सुख मानता है। बालक पढ़ रहा है, भोजन कर रहा है, पर वह मां को अपने पास से हिलने देना नहीं चाहता। मां कहती है तू तो कहानी पढ़ रहा है, मैं यहाँ बैठी क्या करूंगी, कुछ और काम कर लेती हूँ। पर बालक उसे पकड़कर बैठा लेता है, नहीं तुम यहीं बैठी रहो। बड़ा सुहावना दिन है, बादल छाये हुए हैं, कहीं घूमने जाने की योजना बनती है। पर जब बालक को पता चलता है कि पिताजी नहीं चल रहे तो वह कहता है मैं तो पिताजी के बिना नहीं जाता। बात क्या है? माता-पिता का सान्निध्य बालक को क्या देता है? आखिर कुछ तो बालक को मिलता ही है, तभी तो वह उनके बिना

व्याकुल होता है। इसी प्रकार भक्तों को भी भगवान् के सान्निध्य से कुछ मिलता है। भगवान् भक्तों की माता है, भक्तों का पिता है।

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥ ऋ. ८-३८.११

"हे शतक्रतो इन्द्र, हे सैकड़ों कर्म करने वाले प्रभो, हे निवासक, तू ही हमारा पिता है, तू ही माता है। इसलिए हम तुझ से सुख की याचना करते हैं।"

भक्त को भगवान् से क्या मिलता है यह वेद के शब्दों में सुनिये। भक्त को भगवान् से मिलता है सोम-रस, जिसके लिए वेद गाते हैं—

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं,
तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।
उतो न्वस्य पपिवांसमिन्द्रं,
न कश्चन सहत आहवेषु ॥ ऋ० ६.४७.१

जिसने प्रभु से मिलने वाले आनन्द रस को पा लिया है उसके मुख से सहसा उद्गार निकल पड़ते हैं—"आह, यह कैसा स्वादु है! कैसा मधुर है! कैसा तीव्र हैं! कैसा रसीला है! जिसने इसे पी लिया उसे देवासुर-संग्रामों में कोई असुर परास्त नहीं कर सकता।" इसी रस का एक बार स्वाद लेकर भक्तजन आतुरता के साथ पुकार उठते हैं—

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया।
इन्द्राय पातवे सुतः ॥ साम० पू० ५.६.२

"हे प्रभु से झरने वाले आनन्द-रस, तुम अपनी स्वादुतम धारा के साथ मेरे अन्दर झरो, तुम अपनी अतिशय मस्ती लाने वाली धारा के साथ मेरे अन्दर झरो। तुम मुझ आत्मा के पान करने के लिए प्रस्तुत होते हो।"

उपासना करने पर प्रभु भक्त को अपने साथ आनन्द-सागर की तरंगों में झुलाता है।

परि प्रासिष्यदत् कविः, सिन्धोरूर्मावधिश्रितः।
कारुं बिभ्रत् पुरुस्पृहम् ॥ साम० पू० ५. १०. १०

कवि प्रभु स्वयं आनंद-सागर की लहरों पर उतरा रहा है। जब भक्त उपासना करता हुआ उसके समीप पहुँचता है तब वह उस अतिशय प्यारे अपने उपासक को (कारु को) अंगुलि पकड़ कर अपने साथ तैराने लगता है और लहरों में झुला-झुलाकर कृत-कृत्य कर देता है।

अतः, आइये, हम भी उस प्रभु की उपासना करें।

अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥
अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥
उरुः पृथुः सुभूः भुव इति त्वोपास्महे वयम् ॥
प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम् ॥
—अथर्व० १३.४.५०-५३

हे प्रभो, आप (अम्भः) रसमय हैं, आनन्दस्वरूप हैं, (अमः) बली हैं, (महः) महिमाशाली हैं, (सहः) साहसी हैं (इति त्वा उपास्महे वयम्) इस कारण हम आपकी उपासना करते हैं।

हे प्रभो, आप (अम्भः) हम प्यासों के पानी हैं, (अरुणं) प्रकाशमय हैं, (रजतं) हम गरीबों की चांदी हैं, (रजः) हम निर्बलों का रक्त हैं, इस कारण हम आपकी उपासना करते हैं।

हे प्रभो, आप (उरुः) सर्वशक्तिमान् हैं, (पृथुः) सर्वव्यापक हैं, (सुभूः) सत्स्वरूप हैं, (भुवः) चित्स्वरूप हैं, इस कारण हम आपकी उपासना करते है।

हे प्रभो, आप (प्रथः) प्रख्यात हैं, (वरः) वरणीय हैं, वर देने वाले हैं, (व्यचः) विस्तीर्ण हैं, (लोकः) सर्वद्रष्टा हैं, इस कारण हम आपकी उपासना करते हैं।

आपकी उपासना हमें रस प्रदान करे, आनन्द प्रदान करे। सद्‌गुणों का प्रवाह प्रदान करें।

नमस्ते अस्तु पश्यत,
पश्य मा पश्यत ।। अथर्व १३.४.५५

हे सर्वदर्शी, आपको नमस्कार हो। हे सर्वदर्शी, मुझे भी देखो।

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम् ।। ऋ. मं० १। सू० १।

पदार्थ---(अग्निम्) ज्ञानस्वरूप, व्यापक, सब के अग्रणी, नेता और पूज्य परमात्मा की मैं (ईडे) स्तुति करता हूं। कैसा है वह परमेश्वर? (पुरोहितम्) जो सब के सामने स्थित, उत्पत्ति से पूर्व परमाणु आदि जगत् का धारण करने वाला (यज्ञस्य देवम्) यज्ञादि उत्तम कर्मों का प्रकाशक, (ऋत्विजम्) वसन्त आदि सब ऋतुओं का उत्पादक और सब ऋतुओं में पूजनीय, (होतारम्) सब सुखों का दाता तथा प्रलयकाल में सब पदार्थों का ग्रहण करने वाला (रत्नधातमम्) सूर्य्य, चन्द्रमा आदि रमणीय पदार्थों का धारक और सुन्दर मोती, हीरा, सुवर्ण-रजत आदि पदार्थों का अपने भक्तों को देने वाला है।

भावार्थ— ज्ञानस्वरूप परमात्मा सर्वत्र व्यापक, सब प्रकार के यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों का प्रकाशक और उपदेशक, सब ऋतुओं में पूजनीय और सब ऋतुओं का बनाने वाला, सब सुखों का दाता और सब ब्रह्माण्डों का कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्ता है, हम सब को ऐसे प्रभु की ही उपासना, प्रार्थना और स्तुति करनी चाहिए।

२

पूषा देव का गुणगान

वेदों में इन्द्र, वरुण, रुद्र, मरुत् आदि कई देवों का वर्णन मिलता है। उन्हीं देवों में एक देव पूषा भी है। इस पूषा के सम्बन्ध में ऋग्वेद १०म मण्डल, २६वें सूक्त का ६ठा मंत्र इस प्रकार है—

आधीषमाणायाः पतिः शुचायाश्च शुचस्य च ।
वासोवायोऽवीनामा वासांसि मर्मृजत् ॥

सायणाचार्य ने इस मंत्र का अर्थ यह किया है—

"वह पूषा (आधीषमाणायाः) अपने लिए नियत की हुई (शुचायाः च) चमकीली बकरी का (शुचस्य च) और चमकीले बकरे का (पतिः) स्वामी है, वह (अवीनाम्) भेड़ के बालों से (वासोवायः) यज्ञ के 'दशा', 'पवित्र' आदि वस्त्रों को बुन कर देने वाला है, और (वासांसि) उन वस्त्रों को (आमर्मृजत्) चारों ओर प्रकाश और ताप से शुद्ध करता है[1]।"

इतना अर्थ कर सायाणाचार्य सन्तुष्ट हो जाते हैं। वे यह बताने की आवश्यकता नहीं समझते कि यह पूषा कौन है और कैसे इन सब कार्यों को करता है। उनके मत से तो इतना समझ लेना पर्याप्त है कि अनेक देवों में से यह पूषा भी एक देव है और वह बकरी-बकरों की सवारी करता है या उन्हें अपने रथ में जोतता है तथा कपड़ों की उत्पत्ति और शोधन में कारण होता है।

परन्तु सायणाचार्य की इस व्याख्या से कोई भी बुद्धिवादी पाठक सन्तुष्ट नहीं हो सकता। इस मंत्र की बुद्धि संगत व्याख्या के लिए हमें ऋषि दयानन्द की ही शरण में जाना पड़ता है। यद्यपि ऋषि ने इस मन्त्र का भाष्य नहीं किया है तो भी उन्होंने वेदव्याख्या की कुन्जी हमें पकड़ा दी है, जिस कुन्जी से हम वेदमंत्रों के पेचीदे तालों को खोल कर रहस्यार्थ का उद्घाटन कर सकते हैं।

पूषा कौन है ?

ऋग्वेद १.२३.१४ के भाष्य में ऋषि लिखते हैं—"यो जगदीश्वरः स्वाभिव्याप्त्या सर्वान् पदार्थान् पोषयति स पूषा", अर्थात् जो अपनी व्याप्ति से सब पदार्थों

---

१. आधीषमाणायाः आत्मार्थं धीक्षमानायाः शुचायाश्च दीप्तायाः अजायाश्च पतिः स्वामी। न केवलं स्त्रीमात्रस्य किन्तु शुचस्य दीप्तस्य पुंपशोश्च पतिरित्यर्थः। एवंभूतः पूषा देवः अवीनाम् उरणानां सम्बन्धिभी रोमभिः वासोवायः दशा-पवित्रादीनि वस्त्राणि प्रेरयन्, वासांसि रजकशोध्यानि तानि वस्त्राणि आ मर्मृजत्, आ समन्तात् प्रकाशोष्णाभ्यां शोधयन् भवति।

को पुष्ट करता है वह जगदीश्वर पूषा है । 'पूषा' शब्द पोषणार्थक पुष् धातु से बनता है जो स्वयं सब दृष्टियों से परिपुष्ट है तथा अन्य सब को पुष्टि देता है, उस परमात्मा का नाम पूषा है । प्रस्तुत सूक्त में ही उसे 'पुष्टियों का सखा' कहा भी गया है, "इनः पुष्टीनां सखा, ऋ० १०.२६.७" ।

'शुचा' और 'शुच' का पति

अब मन्त्रार्थ पर आते हैं । मन्त्र में पहली बात यह कही है कि वह पूषा परमात्मा 'शुचा' और 'शुच' का पति है। 'शुचा' और 'शुच' शब्द दीप्त्यर्थक शुच् धातु से बने हैं । भाष्यकार उद्गीथ ने यहां शुचा का अर्थ दीप्ति और शुच का अर्थ दीप्त लेकर यह अर्थ किया है कि पूषा सब दीप्तियों का और सभी दीप्त पदार्थों का पति है।[1] 'शुचा' का अर्थ है चमकीला' । संस्कृत में तीन लिंग होते हैं, स्त्रीलिंग पुलिंग और नपुंसकलिंग । 'शुच शब्द' की षष्ठी के एकवचन में स्त्रीलिंग में 'शुचायाः और पुलिंग तथा नपुसकलिंग में 'शुचस्य' बनता है । तो अभिप्राय यह हुआ कि जगत् में जो भी चमकीली स्त्रीलिंगी, पुंलिंगी या नपुंसक लिंगी वस्तुएँ हैं उन सब का यह पूषा परमात्मा अधिपति है । चमकीली स्त्रीलिंगी वस्तुएँ विद्युत्, भूमि, मेघमाला, अग्निज्वाला, तारकावलि आदि हैं, पुलिंग वस्तुएँ अग्नि सूर्य, पर्वत, समुद्र, मेघ, चन्द्र आदि हैं, नपुंसकलिंगी वस्तुएँ पुष्प, फल, हिरण्य, रजत्, ज्योति, आदि हैं। कोई भी चमकीली वस्तु या तो स्त्रीलिंगी होगी या पुलिंगी या नपुंसकलिंगी । अतः 'शुचायाः' और 'शुचस्य' में समस्त चमकीली वस्तुएँ आ जाती हैं । उन सब चमकीली वस्तुओं का वही पूषा प्रभु अधिपति स्वामी या राजा है । सब की चमक का स्रोत वही है,—"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति । कठ० ५।१५।" । मन्त्र में इन चमकीली वस्तुओं का[2] विशेषण 'आधीषमाण' पठित है । इस विशेषण से यह सूचित होता है कि संसार की समस्त चमकीली वस्तुएँ स्वयं स्थित नहीं हैं, किन्तु अपनी स्थिति के लिए परमात्मा पर निर्भर हैं ।

अजा-अज का स्वामी

सायाणाचार्य ने 'शुचा' के साथ बकरी (अजा) और 'शुच' के साथ बकरे (अज) को अपनी ओर से लाकर जोड़ दिया है और यह अर्थ किया है कि पूषा चमकीली बकरी तथा चमकीले बकरे का स्वामी है, क्योंकि ये उसके वाहन हैं। पर मंत्र में इन बकरी-बकरे का कहीं नाम नहीं है। मन्त्र में तो इतना ही कहा है कि 'पूषा' चमकीली और चमकीले का पति है, और पूर्व व्याख्यानुसार 'चमकीली-चमकीले' में बकरी-बकरे ही नहीं, सभी वस्तुएँ आ जाती हैं। यदि यहाँ बकरी-बकरे का ही ग्रहण अभिप्रेत होता तो मन्त्र में 'शुचा' और 'शुच' पद न रख कर स्पष्ट 'अजा' और 'अज' शब्द ही रख दिये गये होते ।

किन्तु, इस मंत्र में बकरी-बकरे का नाम नहीं है, इतना कह देने मात्र से काम नहीं चलेगा, क्योंकि अन्यत्र वैदिक साहित्य में पूषा के साथ स्थान-स्थान पर बकरी-बकरे (अजा और अज) का सम्बन्ध मिलता है ।[3] प्रस्तुत सूक्त के ही ८वें मन्त्र

---

१. शुचायाः सर्वस्या दीप्तेः च शुचस्य दीप्तस्य च सर्वस्य पतिः पूषा ।—उद्गीथ

२. यद्यपि 'आधीषमणायाः' पद स्त्रीलिंगी होने से 'शुचायाः' का ही विशेषण हो सकता है, किन्तु लिंगपरिवर्तन करके इसे 'शुच' का भी विशेषण मानना चाहिए। "आधीषमाणायाः शुचायाश्च, आधीषमाणस्य शुचस्य च पतिः" ।

३. अजाः पूष्णः । निघं. १.१५ । अजाश्वेति पूषणमाह, निरु. ४.६१॥ आजासः पूषणं रथे निशृम्भास्ते जनश्रियम् । देवं वहन्तु केतवः ॥ ऋ. ६.५५.६ ।

में कहा है, "हे पूषन् ! तेरे रथ की धुरी को बकरे (अज) घुमाते हैं।" अतः कहा जा सकता है कि यदि सायणाचार्य ने 'शुचा' और 'शुच' के साथ 'अजा' और 'अज' का अध्याहार कर लिया है तो कोई अक्षम्य अपराध नहीं कर दिया। इसलिए अब हम सायणाचार्य के उक्त अध्याहार को मान कर ही विचार करते हैं।

'अजा,' 'अज' का अध्याहार करने पर यह अर्थ होगा कि "वह पूषा परमात्मा चमकीली अजा और चमकीले अज का स्वामी है।" किन्तु यहां अजा-अज का अर्थ बकरी-बकरा नहीं है। इनका अर्थ समझने के लिए श्वेताश्वतर उपनिषद् का निम्न मंत्र द्रष्टव्य है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ श्वेता० ४.५

एक लाल-सफेद-काली अजा है, जो अपने जैसी बहुत-सी प्रजाओं को उत्पन्न करती है ; एक अज है जो इसका भोग करता है, और दूसरा अज है जो पहले अज से भोगी हुई इस अजा का भोग नहीं करता, प्रत्युत त्याग किये रहता है। श्वेतश्वतर उपनिषद् के इस मन्त्र ने अजा-अज की पहेली को हल कर दिया है। अजा या अज शब्द का अर्थ है जो कभी जन्म न ले। अतः प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनों अज हैं। रंग-विरंगी अजा प्रकृति है, उसे भोगने वाला अज जीवात्मा है और उसके भोग से पृथक् रहने वाला दूसरा अज जीवात्मा है। अतः स्पष्ट है कि पूषा परमात्मा जिन चमकीली अजा और चमकीले अज का स्वामी है वे बकरी-बकरे नहीं किन्तु प्रकृति और जीवात्मा हैं। ऋषि दयानन्द ने कई स्थानों पर अपने भाष्य में 'अजा' का अर्थ जन्मरहिता प्रकृति और अज का अर्थ जन्मरहित जीव किया है।[1]

जुलाहा

मन्त्र में दूसरी बात यह कही है कि वह पूषा परमात्मा भेड़ के बालों से कपड़े बुनने वाला जुलाहा है। जैसे अभी हमने देखा कि पूषा परमात्मा के बकरी-बकरे साधारण बकरी-बकरे नहीं हैं, वैसे ही उसकी भेड़ भी साधारण भेड़ नहीं समझनी चाहिए। भेड़ के लिए मन्त्र में 'अवि' शब्द है। यजु० २३.५४ के भाष्य में ऋषि दयानन्द ने 'अवि' का अर्थ 'रक्षिका प्रकृतिः' किया है। अथर्ववेद १०.८.३१ में इस अवि के विषय में कहा ह—

अविर्वै नाम देवता ऋतेनास्ते परीवृता।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः॥

अर्थात् "अवि नाम की एक देवी है जो परमात्मा के सत्य नियमों से परिवृत है, उसी के रूप से ये हरे-हरे वृक्ष हरित पत्तों की मालायें पहने दिखाई देते हैं।" इससे भी स्पष्ट है कि यह 'अवि' प्रकृति ही है। इस प्रकृति रूपी भेड़ के बालों से अर्थात् प्रकृति-परमाणुओं से पूषा परमात्मा जगत् रूपी पट को बुनता है। परमात्मा का जुलाहे के रूप में चित्रण वेद में अन्यत्र भी मिलता है—"पुमानेतद् वयत्युद्गृणत्ति, पुमानेतद् विजभाराधि नाके। अथर्व० १०।७।४३" अर्थात् पुरुष परमात्मा ही बुनता है, समेटता है, आकाश में ताना तनता है।

धोबी और अलङ्कर्त्ता

मन्त्र में तीसरी बात यह कही गई है कि वह पूषा परमात्मा उन बुने हुए वस्त्रों को साफ भी करता रहता है "वासांसि आ मर्मृजत्"। 'आ मर्मृजत्' में 'मृजू

१. देखो ऋग्भाष्य, १.६.४.३; यजुभाष्य १७.३०: २३.५६; सत्यार्थप्रकाश अष्टम समुल्लास।

शौचालङ्कारयोः' धातु है। तो पूषा परमात्मा जगत् के विविध पदार्थ पटों को बुनकर तैयार भी करता है और उन्हें साफ तथा अलंकृत भी करता रहता है। वह स्वयं जुलाहा, धोबी, रंगरेज़, चित्रकार, कढ़ाई करने वाला सब कुछ है। नहीं तो उस विलक्षण जुलाहे से तैयार किये वस्त्रों को धोने वाला धोबी हमें कहां मिले, उस अनोखे बुनकर के वस्त्रों को रंगने वाला रंगरेज़ हमें कौन मिले, उसके वस्त्रों पर चित्र बनाने वाला और बेल-बूटों की कढ़ाई करने वाला हमें कौन मिले?

देखो, जगत् के वृक्ष-वनस्पति, वन-पर्वत, भूमि आकाश, ईंट-पत्थर आदि वस्त्रों पर जब धूल आदि की मलिनता चढ़ जाती है तब वह पूषा प्रभु वर्षा की पावन धाराओं से उन्हें धोकर निर्मल कर देता है। जब कभी इनमें किसी प्रकार का कोई विकार उत्पन्न होने लगता है तब वह अपनी सूर्य और वायु की मार्जनी द्वारा उन्हें शुद्ध कर देता है। वही वृक्षों की हरी-हरी पत्तियों में और रंग-बिरंगे फूलों में तथा अन्य चित्र-विचित्र पदार्थों में रंग भर कर उन्हें अलंकृत करता है। वही रात्र्याकाश की श्याम चादर पर तारों के सलमे-सितारों से सुनहरे सप्तर्षि आदि के चित्र काढ़ता है। वही पशु-पक्षियों के शरीर के त्वग्वस्त्र पर रंग-बिरंगे रोमों से चित्रकारियां करता है।

पूषा सूर्य

परमात्मपरक अर्थ के अतिरिक्त इस मन्त्र की अन्य व्याख्याएँ भी हो सकती हैं। ऋषि दयानन्द के अनुसार पूषा के परमात्मा, पोषक प्राण, पुष्टिकर्त्ता वायु, पुष्टिकर मेघ, भूमण्डल, पोषक वैद्य, सूर्य, चन्द्रमा, सभासेनाध्यक्ष, परिपुष्ट सैन्य, विद्वान् पुष्टिकर्ता शिल्पी, पुष्टिमान् वीर आदि कई अर्थ हैं। इन पक्षों में भी मन्त्र की सुसंगत व्याख्याएँ की जा सकती हैं।

एक व्याख्या के अनुसार पूषा सूर्य है।[1] वह शुचा और शुच का अधिपति है। शुचा का अर्थ है चमकीली विद्युत्, शुच है चमकीला अग्नि। अन्तरिक्षस्थानीय विद्युत् और पृथिवीस्थानीय अग्नि दोनों का संरक्षक सूर्य ही है। अथवा यदि शुचा-शुच के साथ अजा-अज का ही अध्याहार करना हो तो चमकीली अजा है रंग-बिरंगी पृथ्वी। पृथ्वी अजा इसलिये है क्योंकि वह गतिशील है, (अज गतिक्षेपणयोः), १८ मील प्रति सैकण्ड के अपरिमित वेग से वह सूर्य के चारों ओर दौड़ रही है। चमकीले अज हैं गतिशील अग्नि या पृथ्वी की तरह के दूसरे मंगल, बुध आदि ग्रह। सूर्य इन सबका भी अधिपति है। अथवा चमकीली अजा है गतिशील रात्रि और चमकीला अज है प्रकाशमान दिन। इनका भी सूर्य अधिपति है।

'अवि' का अर्थ भी पृथ्वी है।[2] उस पृथ्वी के बालों अर्थात् अवयवों से सूर्य अनेक पार्थिव पदार्थ रूपी वस्त्रों को बुनता है; यदि सूर्य न हो तो पृथिवी पर सब पदार्थों की उत्पत्ति रुक जाए। फिर वह सूर्य उन उत्पन्न हुए पार्थिव पदार्थ रूपी वस्त्रों को वर्षा, प्रकाश, ताप, वायुसंचालन आदि के द्वारा शुद्ध भी करता रहता है और अपनी सात रंगों वाली किरणों से सब पदार्थों को विविध रूप प्रदान करता हुआ उन्हें अलंकृत भी करता है।

आइये, वेद के साथ हम भी उस विलक्षण अजपाल के, उस विलक्षण जुलाहे के, उस विलक्षण धोबी और अलंकर्त्ता के गुणगान करें।

---

१. अथ यद् रश्मिपोषं पुष्यति तत् पूषा भवति। निरु. १२.१७। असौ वै पूषा योऽसौ (सूर्यः) तपति। कौ० ५.२। "पूषा सूर्यः" यजुः ३३.३४ भाष्ये दयानन्दः।

२. रक्षणादिकर्त्री पृथिवी। यजुः २३.१२ भाष्ये दयानन्दः। इयं (पृथिवी) वा अविः, इयं हीमाः सर्वाः प्रजा अवति। श० ६.१.२.३३। अवतीत्यविः पृथिवी। यजुः २३.१२ भाष्ये महीधरः।

व्रात्य की आसन्दी

अथर्ववेद का एक छोटा-सा कथानक है। एक बार व्रात्य किसी राज्य में गया। वह लगातार एक वर्ष तक खड़ा रहा। देवों का ध्यान उसकी ओर गया और उन्होंने उससे पूछा—व्रात्य, खड़े क्यों हो? व्रात्य ने कहा, मेरे लिए आसन्दी (चौकी) लाइये, तब मैं बैठूं। उन्होंने तुरन्त आसन्दी बनानी आरम्भ कर दी। ग्रीष्म और वसन्त उसके दो पैर हुए, शरद् और वर्षा शेष दो पैर। बृहत् और रथन्तर लम्बाई की पाटियाँ बनीं, यज्ञायज्ञिय तथा वामदेव्य चौड़ाई की पाटियाँ। ऋचाओं के तारों में ताना तना गया, यजु: के तारों से बाना डाला गया। उस पर 'वेदसु' का बिछौना लगाया, 'ब्रह्म' की चादर बिछाई। 'साम' का आसन बिछा, 'उद्गीथ' का तकिया लगा। इस प्रकार जब आसन्दी बनकर तैयार हो गयी, तब व्रात्य उस पर बैठा। सब देवजन उसके परिचारक बन गये। संकल्प उसके दूत बने। सब भूत दरबारी बनकर उसके पास आ बैठे, उसके 'उपसद' हो गये। जैसे उस व्रात्य के सब भूत 'उपसद' हो गये, वैसे ही जो इस रहस्य को समझ लेता है, उसके भी सब भूत 'उपसद' हो जाते हैं।[1]

व्रात्य कौन है ?

वेदोत्तरकालीन साहित्य में अधिकतर व्रात्य शब्द निन्दित अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। व्रात्य उसे कहा है जिसके जातकर्मादि संस्कार नहीं होते, और उसे पतित माना गया है।[2] पर कहीं-कहीं 'व्रात्य' का प्रयोग अच्छे अर्थों में भी हुआ है। प्रश्नोपनिषद् में प्राण को व्रात्य कहा है, जिसका अर्थ शंकराचार्य ने 'जिसे संस्कार की आवश्यकता ही नहीं, अर्थात् जो स्वभावत: शुद्ध है',[3] ऐसा किया है। बाद के युग

---

१. स संवत्सरमूर्ध्वोऽतिष्ठत्। तं देवा अब्रुवन् व्रात्य किं नु तिष्ठसीति। सोऽब्रवीदासन्दीं मे संभरन्त्विति। तस्मै व्रात्यायासन्दीं समभरन्। तस्या ग्रीष्मश्च वसन्तश्च द्वौ पादावास्तां शरच्च वर्षाश्च द्वौ। बृहच्च रथन्तरं चानूच्ये आस्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च तिरश्च्ये। ऋच: प्राञ्चस्तन्तवो यजूंषि तिर्यञ्च:। वेद आस्तरणं ब्रह्मोपबर्हणम्। सामासाद उद्गीथोऽपश्रय:। तामासन्दीं व्रात्य आरोहत्। तस्य देवजना: परिष्कन्दा आसन्, संकल्पा: प्रहाय्या:, विश्वानि भूतान्युपसद:। विश्वान्येवास्य भूतान्युपसदो भवन्ति य एवं वेद। अथर्ववेद, काण्ड १५, पर्याय ३।

२. सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिता:। मनु० २.३९। व्रात्य: संस्कारहीन: स्यात्—अमरकोश।

३. 'व्रात्यस्त्वं प्राणैकर्षि:'—प्रथमजत्वादन्यस्य संस्कर्तुरभावादसंस्कृतो व्रात्यस्त्वं, स्वभावत एव शुद्ध इत्यभिप्राय:।

में व्रात्य शब्द का जो भी अर्थ रहा हो, पर अथर्ववेद के इस प्रकरण में व्रात्य निःसंदेह अच्छे अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। उपर्युक्त कथानक में व्रात्य विराट् परमेश्वर है। उसे व्रात्य इस कारण कहा है, क्योंकि वह व्रतनिष्ठ है। जगत् की उत्पत्ति, जगत् का धारण, यथासमय जगत् का संहार, समग्र नियम-व्यवस्था, पाप-पुण्य का फल प्रदान आदि अनेक व्रतों को उसने स्वेच्छा से ग्रहण किया हुआ है। व्रात अर्थात् जन-समुदाय का हितकारी होने से भी वह व्रात्य कहलाता है। वह व्रात्य समस्त जगत् का सम्राट् है। अन्य मानवी राजा मानो सब उसी के सामन्त हैं।

व्रात्य खड़ा क्यों रहा ?

ऐसा अद्वितीय जगत् का सम्राट् किसी राष्ट्र में पहुँचा है। उस राष्ट्र के वासियों को चाहिए तो यह कि सब प्रकार से उसके स्वागत का आयोजन करें, किन्तु किसी का उसकी ओर ध्यान नहीं जाता। ध्यान देने की वहां किसी को फुर्सत ही नहीं, सारा राष्ट्र विलासी जीवन में रत है। न वहाँ धर्म है, न सत्कर्म है, न विद्या है, न सत्य है, न न्याय है। वह राष्ट्र पतन की चरम सीमा को पहुँचा हुआ है। वहां तो व्रात्य के विरोधी असुर का स्वागत हो रहा है। व्रात्य देखता है कि इस राष्ट्र में मेरे योग्य स्थान नहीं है। अतः वह वहां खड़ा ही रहता है। असल में व्रात्य सर्वत्र ही है, जो उसे बैठने के लिए आसन देते हैं, उनके यहाँ वह बैठ जाता है। जो आसन नहीं देते और उसे बैठाना नहीं चाहते, वहाँ वह खड़ा रहता है। इसी प्रकार उस राष्ट्र में भी वह खड़ा रहा। व्रात्य के लिए खड़ा होने, बैठने आदि का व्यवहार आलंकारिक है। जिस राष्ट्र में परमेश्वर की पूजा होती है, उसके आदेशों का पालन होता है, वहाँ वह बैठा हुआ है, ऐसा कहा जा सकता है। जहाँ उसका नाम कीर्त्तन करने वाला कोई नहीं है, वहाँ मानो वह खड़ा हुआ है।

देवों का ध्यान गया

जब कोई राष्ट्र बहुत दिनों तक पतित रहता है और वहाँ ईश्वर का निवास नहीं रहता, तब कुछ ऐसे देवजन उस राष्ट्र में जन्म लेते हैं, जिन्हें राष्ट्र का यह पतन और राष्ट्र की यह ईश्वरविमुखता अखरते हैं। उन्हें यह असह्य हो जाता है कि हम व्रतपति परमेश्वर का आतिथ्य न करें। वे प्रयत्न करते हैं कि उस राष्ट्र के सब लोग परमेश के पुजारी हों तथा पुण्य कर्मों में संलग्न हों। राम, श्रीकृष्ण, बुद्ध, शंकराचार्य, ऋषि दयानन्द आदि इसी देवकोटि के पुरुष रहे हैं। इसी प्रकार इस कथानक में भी देवों का ध्यान इस ओर गया। इसी बात को कहानी के रूप में इस तरह कह दिया गया है कि उन्होंने व्रात्य से कहा कि हे व्रात्य, तुम खड़े क्यों हो, हमारे राष्ट्र में बैठते क्यों नहीं ? व्रात्य ने उत्तर दिया—मेरे योग्य आसन्दी ही नहीं है, बैठूं कहाँ ?

आसन्दी का अभिप्राय

जब कोई सत्पुरुष हमसे मिलने आता है, तब हम उसे बैठने के लिए उसके योग्य आसन, चौकी, कुर्सी आदि देते हैं। इसी प्रकार व्रात्य जब हमारे राष्ट्र में अतिथि बनकर आया है, तो हमें उसे आसन प्रदान करना चाहिए। उसका आसन क्या है ? जैसे वह स्वयं भौतिक-शरीर-धारी नहीं है, वैसे ही ये भौतिक कुर्सी, पलंग, मखमली गद्दे आदि उसके आसन नहीं हो सकते। उसे आसन देने का अभिप्राय है राष्ट्र में उसके बैठने योग्य वातावरण उत्पन्न करना। बहुत दिनों की बात है, एक बार किसी

संस्था के सञ्चालकों ने महात्मा गांधीजी को अपने यहां आने को निमन्त्रण भेजा। महात्माजी ने कुछ बातें लिख भेजीं। क्या आपके यहाँ खद्दर पहना जाता है? हरिजनों के साथ भेदभाव तो नहीं रखा जाता? क्या आप लोग सूत कातते हैं आदि। यदि आपकी संस्था में इन बातों की प्रवृत्ति है, तो मैं आऊंगा, अन्यथा नहीं। मानो ये बातें ही महात्माजी के बैठने योग्य आसन थीं। ऐसे ही किसी राष्ट्र में परमेश्वर का वास हो, परमेश्वर वहाँ बैठे, इसके लिए कुछ अनुकूल परिस्थितियों की आवश्यकता है। उन्हीं परिस्थितियों को व्रात्य की आसन्दी या चौकी कहा जा सकता है। देवपुरुषों ने उन परिस्थितियों को राष्ट्र में उत्पन्न करने का यत्न किया। इसी को प्रकारान्तर से इस रूप में भी कह सकते हैं कि उन्होंने व्रात्य के बैठने के लिए आसन्दी बनानी आरम्भ कर दी।

आसन्दी के चार पैर

सर्वप्रथम पैर या पावे कल्पित किये जाने चाहिएं, क्योंकि उन्हीं के ऊपर राजकीय आसन्दी का सारा ढाँचा खड़ा होना है। ग्रीष्म, वसन्त, शरद् और वर्षा ही उसके चार पैर हुए। यों तो वर्ष में छह ऋतुएं होती हैं, पर हेमन्त तथा शिशिर को शरद् के ही अन्तर्गत कर लेने से पूर्वोक्त चार ऋतुएं हो जाती हैं। आगे आसन्दी के जो भी अंग बताये जायेंगे अर्थात् व्रात्य के बैठने योग्य जो भी परिस्थितियां कही जायेंगी, उन सब का आधार ये ही ऋतुएं होंगी। इस कारण इन्हें चौकी के पैर कहा गया है। अभिप्राय यह है कि देवों ने यह प्रयत्न किया कि जो भी हम व्रात्य के अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न करें, वे सभी ऋतुओं में अर्थात् सारे वर्षभर बनी रहें, ऐसा न हो कि क्षणिक रूप में वे आयें और चली जायें।

चारों पाटियां

पावे बन जाने के अनन्तर पाटियों की बारी आयी। बृहत् और रथन्तर लम्बाई की पाटियां बनीं और यज्ञायज्ञिय तथा वामदेव्य चौड़ाई की पाटियाँ। ये चारों साम के भेद हैं। देवपुरुषों ने अपने राष्ट्र में साम-गान का अधिकाधिक प्रचार किया। गीति ईश्वर-भक्ति को जगाने में बहुत सहायक है। इस साम-गान के प्रचार से परमेश्वर के निवास के लिए कुछ और अनुकूल परिस्थिति पैदा हो गई। मानो आसन्दी की पाटियां बनकर तैयार हो गयीं। बृहत् आदि चारों शब्दों से अन्य भी विशेष भाव सूचित होते हैं। 'बृहत्' विशालता, उदारता तथा महत्त्वाकांक्षी होने का द्योतक है। इसलिए बृहत् को पहली पाटी बनाने का भाव यह भी है कि देवपुरुषों ने यह प्रयत्न किया कि सब राष्ट्रवासी विशाल और उदार हृदय वाले हों, संकुचित प्रवृत्ति और स्वार्थ भावना को छोड़ें तथा मनों में ऊंची आकांक्षाएं संजोयें। दूसरी पाटी 'रथन्तर' है। रथन्तर शब्द का अर्थ है—'रथ द्वारा मार्ग को पार करने की कला'। सब मनुष्यों को शरीररूपी उत्तम रथ मिला हुआ है। उस रथ की सहायता से कैसे विघ्न-बाधाओं से भरे हुए विकट मार्ग को तय करके लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है, यह विद्या रथन्तर-विद्या कहलाती है। देव-पुरुषों ने इस विद्या का भी राष्ट्र में प्रचार किया। उन्होंने अपने देशवासियों का ध्यान आकृष्ट किया कि तुम्हें यह मानव-योनि या मनुष्य-रथ प्राप्त हुआ है, इस रथ पर तुम निरुद्देश्य मत बैठे रहो। जीवन में लक्ष्य बनाओ और उस तक पहुंचने के लिए शरीर-रथ को काम में लाओ। यह आसन्दी की दूसरी पाटी तैयार हो गयी। तीसरी पाटी 'यज्ञायज्ञिय' है। यज्ञायज्ञिय शब्द यज्ञ-कर्मों को सूचित करता है। अतः इसे पाटी बनाने का भाव है कि

देव-पुरुषों ने राष्ट्र में यज्ञ-कर्मों का प्रसार किया। ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथि-यज्ञ, भूतयज्ञ इन पंचयज्ञों तथा अन्य विभिन्न यज्ञों को प्रोत्साहन दिया। चौथी पाटी 'वामदेव्य' है। वाम का अर्थ श्रेष्ठ या सुन्दर होता है। इस प्रकार राष्ट्र में 'सत्यं शिवं, सुन्दरम्' की भावना का प्रचार ही वामदेव्यरूपी चौथी पाटी का निर्माण है।

ताना-बाना

पाटियां तैयार हो गयीं। अब उन पर बुनावट डाली जानी थी। ऋचाएं ताने के तन्तु बनीं और यजुः बाने के तन्तु। इस प्रकार ऋक् और यजुः के तन्तुओं से वह आसन्दी बुनी गयी। ऋग्वेद का सम्बन्ध ज्ञानकाण्ड से है और यजुर्वेद का कर्म-काण्ड से। अतः ऋचाओं से ताना तनने का भाव है कि उन देव-पुरुषों ने राष्ट्र में अधिकाधिक ज्ञान का प्रसार किया। ऐसा प्रयत्न किया कि सब प्रकार के ज्ञान-विज्ञानों में हमारा देश शिरोमणि हो जाये। इस तरह ज्ञान का ताना तना गया। परन्तु केवल ताना किसी काम का नहीं, जब तक उसमें बाने के तार न डाले जायें। इसी प्रकार केवल ज्ञान किसी समाज या राष्ट्र की उन्नति के लिए पर्याप्त नहीं है, जब तक उसके साथ उससे मेल खाते कर्म न हों। अतः जब देव-पुरुषों ने ज्ञान के साथ कर्मों का भी प्रचार किया तब मानो उस आसन्दी का बाना भी पुर गया। अब उस राष्ट्र के लोग मूर्खता को छोड़कर विद्याग्रहण में और सदाचरण में समय व्यतीत करने लगे। एवं व्रात्य के बैठने योग्य बहुत-कुछ परिस्थिति उत्पन्न हो गयी।

अन्य साज

पाये बन गये, उनमें पाटियां पड़कर आसन्दी का ढाँचा बन गया। ताना-बाना डालकर बुनावट भी कर दी गयी, किन्तु अभी अन्य साज तो बाकी ही है। क्या सारे जगत् का सम्राट् खाली चौकी पर बैठ जायेगा? नहीं, अभी तो उस पर बिछौना बिछना चाहिए, बिछौने के ऊपर बढ़िया-सी मखमली चादर बिछनी चाहिए। चादर के ऊपर एक सुन्दर-सा कढ़ा हुआ आसन होना चाहिए। ढासने के लिए तकिया या मसनद भी चाहिए। तब व्रात्य उस पर बैठेगा।

कथानक में कहा है कि उस बुनावट के ऊपर 'वेदस्' का बिछौना बिछाया गया। वैदिक कोष-निघण्टु के अनुसार 'वेदस्' का अर्थ धन है। अतः वेदस् का बिछौना बिछाने का अर्थ है राष्ट्र को पूर्ण धनधान्यसम्पन्न और समृद्धिशाली बना देना। अन्यथा, जो राष्ट्र धन-हीन है, जहाँ के लोगों के पास दो समय पेट भरने को अन्न नहीं है, उस राष्ट्र में परमेश्वर को कौन पूछेगा?

बिछौना भी बिछ गया, अब उसके ऊपर एक चमकती चादर चाहिए, जिससे वह आसन्दी जगमगा उठे। 'ब्रह्म' ही वह चादर है। ब्रह्म का अर्थ है अध्यात्म-विद्या। यदि उस धन-दौलत के बिछौने को अध्यात्म-विद्या की चादर से नहीं ढका जायेगा, तो वह एकांगी होने से राष्ट्र के लिए बड़ी घातक और दुःखदायी वस्तु सिद्ध होगी। धन के नशे में चूर होकर कौन उन्मत्त नहीं हो जाता? इस लिए जहाँ एक ओर धन है, वहाँ साथ ही उन धनी लोगों में अध्यात्म-पिपासा, योगाभिरुचि, अन्तर्मुखी वृत्ति होनी भी आवश्यक है। तभी वह देश ईश्वर के वासयोग्य हो सकता है। नहीं तो, ब्रह्मभावना-रहित इन्द्रियां धन को विलास की वस्तु ही समझेंगी।

बिछौने पर चादर भी बिछ गई। अब उस पर एक सुन्दर सुनहरा आसन होना

चाहिए, जिसके ऊपर व्रात्य बैठेगा। 'साम' ही वह आसन है। साम का सम्बन्ध उपासनाकाण्ड से है। 'साम' शान्ति और भक्ति का प्रतीक है। लोग सच्ची शान्ति के अनुरागी हों, भक्ति उनका सोमरस हो, जीवन को समस्वरता-युक्त तथा संगीतमय बनाना उनका ध्येय हो, सामवेद की ऋचाओं का गान करते हुए वे भक्ति में लीन रहते हों, ऐसी अवस्था जिस राष्ट्र की हो जाये, वहाँ व्रात्य नहीं बैठेगा, तो और कहाँ बैठेगा ?

पर अभी आसन्दी पर तकिया, मसनद या ढासना तो लगा ही नहीं। आराम से बैठने के लिए उनका होना भी आवश्यक है। देवपुरुष बड़े कुशल होते हैं, उन्होंने उसकी भी व्यवस्था कर दी है। 'उद्गीथ' ही उस का तकिया या मसनद है। उद्गीथ का अर्थ है ओंकार या प्रणव-जप। देवपुरुषों की प्रेरणा से राष्ट्र के वासी लोग अपने अन्दर परमेश्वर को बद्धमूल करने के लिए ओंकार का जप भी करने लगे। अब किस बात की कमी रही ? अब तो राजकीय चौकी के सब अंग पूर्ण हो गये, पूरा साज एकत्र हो गया। अब तो व्रात्य को बैठना ही चाहिए।

व्रात्य बैठ गया

यह लीजिये व्रात्य बैठ गया। जो असन्तुष्ट होकर निरन्तर वर्ष भर खड़ा रहा था, वह आज सुप्रसन्न होकर बैठ गया है। किन्तु अब भी सावधानी की आवश्यकता है। बड़ी कठिनाई से व्रात्य ने बैठना स्वीकार किया है। कहीं ऐसा न हो कि उसके सत्कार में कुछ त्रुटि रह जाये और वह रुष्ट होकर फिर उठ खड़ा हो, देवपुरुषों का अब तक का सब प्रयत्न व्यर्थ हो जाये। नहीं, देवजनों को इसकी भी पूरी चिन्ता है। जो अपने सुख-दुःख की परवाह न कर अहर्निश व्रात्य की आसन्दी को बनाने में, देश में ईश्वरवास योग्य वातावरण पैदा करने में, सचेष्ट रहे हैं, उन्हें क्या इसकी चिंता नहीं होगी कि व्रात्य के बैठने के पश्चात् उसके आतिथ्य में कुछ त्रुटि न रहे।

परिचारक, दूत और दरबारी

सब देवजन व्रात्य के परिचायक (परिष्कन्द) बन गये हैं। वे सर्वात्मना उसकी आराधना में लीन हैं। जब एक बार उन्होंने अपने देश में उसे बैठा लिया है, तो अब वे उसे अप्रसन्न होकर उठने नहीं देंगे। जो बातें उसे प्रिय हैं उनका वे देश में सतत प्रचार करते रहेंगे।

पर दूत कौन बनेगा ? जब व्रात्य सम्राट् बनकर राजकीय आसन्दी पर आरूढ़ हो गया है, तो उसके दूत भी होने चाहिएं, जिन्हें राष्ट्र में इधर-उधर भेज कर वह कार्य करायेगा। संकल्प ही उसके इतस्ततः भेजे जाने वाले दूत (प्रहाय्याः) हैं। मानवी सम्राटों की तरह उसे शरीरधारी दूतों की अपेक्षा नहीं है। उसके संकल्पों में बड़ा सामर्थ्य है। अपनी संकल्प-शक्ति से ही उसने सृष्टि रची है और सृष्टि को धारण भी कर रहा है। वे उसके संकल्प ही उसके लिए दूतों का कार्य करेंगे। जैसे कोई मनुष्य राजा अपनी किसी प्रजा को कोई सन्देश भेजना या प्रेरणा करना चाहता है तो दूतों द्वारा करता है, वैसे ही वह जिस व्यक्ति में जो प्रेरणा भरना चाहेगा, अपने संकल्प से ही भर देगा।

जब राष्ट्रवासियों ने ऐसे विलक्षण सम्राट् को अपने मध्य सिंहासन पर बैठा

लिया है, तब कौन है जो उसके उपसन्न न हो, दरबारी बन कर उसके दरबार में उपस्थित न हो ? सब भूत, सब देशवासी उसके चरणों में शीश झुका रहे हैं और उन्होंने अपने सब आपसी झगड़े, अपनी सब फरियादें उसी पर छोड़ दी हैं। वे अपने आपको उसके दरबार में बैठा हुआ अनुभव करते हैं और प्रतीक्षा कर रहे हैं कि वह किन कर्त्तव्य-कर्मों की, किन राज-नियमों की, हमारे लिए घोषणा करता है। जो उसका आदेश होगा, उसे पालन करने के लिए सब नर-नारी तैयार हैं।

क्या हम व्रात्य नहीं बन सकते ?

कथानक के अन्त में कहा है कि चाहें तो हम भी व्रात्य बन सकते हैं। व्रात्य की इस महिमा को हम हृदयंगम करें और अपने जीवन में घटाने का यत्न करें। हम भी उस बड़े व्रात्य के समान व्रतनिष्ठ बनें, जन-समुदाय का नेतृत्व करने की शक्ति अपने अन्दर उत्पन्न करें। तब हमें भी जनता ऊंचा आसन देगी और हमारे भी सब लोग 'उपसद' बनेंगे, अपनी-अपनी समस्याएं लेकर सुलझाने के लिए हमारे समीप आयेंगे और हमारे निर्णय तथा आदेश की प्रतीक्षा में खड़े रहेंगे। हमारे मुख से जो कुछ निकलेगा उसका अक्षरशः पालन करने में वे गौरव अनुभव करेंगे। हम खड़े होंगे तो हमें बैठाने के लिए सब की आंखें हमारी ओर लगी रहेंगी।
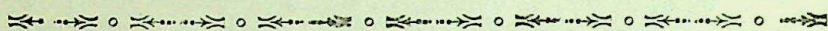
अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।
स देवाँ एह वक्षति ॥ ऋ. १। १। २॥

पदार्थ—(अग्निः) परमेश्वर (पूर्वेभिः ऋषिभिः) प्राचीन ऋषियों से (उत) और (नूतनैः) नवीनों से (ईड्यः) स्तुति करने योग्य है। (सः) वह (देवान्) देवताओं को (इह) इस संसार में (आ वक्षति) प्राप्त करता है।

भावार्थ—पूर्व कल्पों में जो वेदार्थ को जानने वाले महर्षि हो गए हैं और जो ब्रह्मचर्यादि साधनों से युक्त नवीन महापुरुष हैं, इन सब से वह पूज्य परमात्मा ही स्तुति करने योग्य है। उस दयालु प्रभु ने ही इस संसार में दिव्य-शक्ति वाले, वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्र और बिजली आदि देव और हमारे शरीरों में भी विद्या आदि सद्गुण, मन, नेत्र, श्रोत्र, घ्राणादि देव प्राप्त किये हैं। जिन देवों की सहायता से हम अपना लोक और परलोक सुधारते हुए अपने मनुष्य जन्म को सफल कर सकते हैं।

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे ।
यशसं वीरवत्तमम् ॥ ऋ. १।१।३॥

पदार्थ—(अग्निना एव) परमात्मा की कृपा से ही पुरुष (रयिम्) धन को (अश्नवत्) प्राप्त होता है। जो धन (दिवे दिवे पोषम्) दिन-दिन में बढ़ने वाला है (यशसम्) कीर्ति दाता और (वीरवत्तमम्) जिस धन में अत्यन्त विद्वान् और शूरवीर पुरुष विद्यमान् हैं।

भावार्थ—परमेश्वर की उपासना करने से और उसकी वैदिक आज्ञा में रहने से ही मनुष्य ऐसे उत्तम धन को प्राप्त होता है कि जो धन प्रतिदिन बढ़ने वाला, मनुष्य की पुष्टि करने वाला और यश देने वाला हो। जिस धन से पुरुष, महाविद्वान् शूरवीरों से युक्त होकर सदा अनेक प्रकार से सुखों से युक्त होता है, ऐसे धन की प्राप्ति के लिए ही उस भगवान् की भक्ति करनी चाहिए।

अहो, मैं क्या था, क्या हो गया !

प्रायः व्यक्तियों, जातियों और देशों के जीवनों के इतिहास में उत्थान और पतन के उलट-फेर होते रहते हैं। जो आज शिखर पर आरूढ़ है वही कल भूमि पर गिरा हुआ दृष्टगोचर हो सकता है। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने उज्ज्वल भूत को स्मरण कर वर्त्तमान को भी उज्ज्वल बनाने का प्रयत्न करे। इसी भावना को जागृत कराने वाला एक वैदिक वर्णन यहाँ दिया जाता है। यह किसी व्यक्ति-विशेष का इतिहास नहीं है, किन्तु शिक्षा देने के लिए रचा गया एक काल्पनिक चित्र है।

मित्रो, आओ, आज मैं तुम्हें अपने अतीत और वर्त्तमान की कथा सुनाऊँ। मैं किस प्रकार एक उन्मुक्त पक्षी की भाँति स्वच्छन्द आकाश में विहार किया करता था और अब पर-कटे पक्षी की तरह ऊपर से नीचे गिरा पड़ा हूँ, वह सब कहानी तुम्हें कहूं।

[1]प्र मा युयुज्रे प्रयुजो जनानां,
वहामि स्म पूषणमन्तरेण।
विश्वे देवासो अध मामरक्षन्,
दुःशासुरागादित घोष आसीत्॥

ऋ० १०।३३।१

एक दिन था जब मैं कटिबद्ध होकर कार्यक्षेत्र में उतरा हुआ था। मेरे अन्दर अपार उत्साह था, असीम क्रियाशक्ति थी। प्रयत्न और पुनः प्रयत्न, बिना लक्ष्य पर पहुंचे दम न तोड़ना यही मेरे जीवनमार्ग का पाथेय था। जो भावनाएं मनुष्य को प्रयत्न में प्रेरित करती हैं, वे मेरे अन्दर उमड़-उमड़ कर उठती थीं। मैं अपनी वर्त्तमान अवस्था से ऊँचा उठूँ, यही भावना मेरे अन्दर हिलोरें मारती थी। मैं सोचता था कि भूमि से मैं अन्तरिक्ष में उड़ जाऊँ, अन्तरिक्ष से द्युलोक में पहुँच जाऊँ और द्युलोक में भी अपनी उड़ान को विराम न देकर उससे भी आगे स्वर्लोक की यात्रा में संलग्न हो जाऊँ[2]। मैं सोचता था कि मैं अहर्निश आगे बढ़ता रहूँ। जो मेरे बराबर

---

१. (जनानां प्रयुजः) मनुष्यों को प्रयत्न में प्रेरित करने वाली भावनाओं ने (मा प्रयुयुज्रे) मुझे प्रयत्न में प्रेरित किया हुआ था। मैं (अन्तरेण) अपने अन्दर (पूषणं वहामि स्म) परिपुष्ट सूर्य को धारण किये रहता था, या 'पूषा' प्रभु को धारण किये रहता था। (अध) और (विश्वे देवासः) सब दिव्य गुण, सब देवजन तथा सब दिव्य प्राकृतिक पदार्थ (माम् अरक्षन्) मेरी रक्षा करते थे। जहाँ कहीं मैं जाता था, वहां (दुःशासु आगात्) 'यह दुर्जेय पुरुष आ गया है' (इति घोषः आसीत्) यह आवाज़ उठती थी।

२. पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्। दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्। यजु. १७.६७

के हैं, उनसे आगे निकल जाऊँ और जो मुझसे आगे हैं उन्हें भी पीछे छोड़ दूं[1]। मैं चाहता था कि मैं विद्या में सर्वोपरि हो जाऊँ। इस प्रकार की मनुष्य को उच्चता की ओर प्रेरित करने वाली महत्त्वाकांक्षाओं से मैं प्रेरित था।

इसीका परिणाम था कि मैं अपने अन्दर 'पूषा' को धारण किये था। मेरे हृदयाकाश में मानो सदा परिपुष्ट सूर्य उदित रहता था। मेरे अन्तस्तेज का एक-एक कोना परिपुष्ट सूर्य की रश्मियों से उद्भासित रहता था। कहीं भी अज्ञान, अविवेक, मोह, तामसिकता, ईर्ष्या, द्वेष, भय आदि के अन्धकार की सत्ता नहीं। साथ ही 'पूषा' नाम से स्मरण किये जाने वाले सर्वात्मना परिपुष्ट तथा सर्वपोषक अजर-अमर-अक्षय परमेश्वर को भी मैं सदा अपने हृदय में बसाये रखता था। प्रतिपल, प्रतिकार्य में उन 'पूषा' प्रभु को मैं स्मरण रखता था।

उन दिनों कभी मैं अपनें अपने आपको अरक्षित अनुभव नहीं करता था। सब दिव्य गुण, सब देवजन और सब प्राकृतिक दिव्य पदार्थ (विश्वे देवासः) मेरे रक्षक बने हुए थे। मेरे अन्दर विद्यमान अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान आदि दिव्य गुण पाप, अनाचार, अनैतिकता आदि के बड़े से बड़े आँधी-तूफानों से मेरी रक्षा करते थे। साथ ही देश में रहने वाले सब मनुष्य और देवजन भी मेरी रक्षा के लिए उद्यत थे। मुझे अपनी रक्षा की चिन्ता स्वयं नहीं करनी पड़ती थी, किन्तु मुझे अपना महान् नेता मान कर देशवासी ही मेरी रक्षा के लिए चिन्तित रहते थे। मुझे-जरा-सा सिर दर्द होने पर देश के बड़े-बड़े चिकित्सक अपनी सेवाएं देने के लिए मेरे पास दौड़े चले आते थे। मुझे जरा से धन की आवश्यकता होने पर देश के बड़े-बड़े धनपति अपनी समस्त पूँजी मेरे चरणों पर न्यौछावर करने के लिए लालायित रहते थे। मुझे जरा-सा शत्रुभय होने पर बड़े-बड़े वीर योद्धा मेरे लिए प्राण अर्पित करने को तैयार रहते थे। ऐसा गौरवमय मेरा जीवन था। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक पदार्थ रूपी जो तीसरी श्रेणी के देव हैं, वे भी मेरे रक्षक बने हुए थे। सूर्य, वायु, अग्नि, पर्वत, नदी, समुद्र, बादल आदि किसी भी पदार्थ की शक्ति नहीं थी कि मुझसे विद्रोह करे। ऐसा महान् मेरा व्यक्तित्व था कि ये सब मानो मेरे अनुचर बने हुए थे।

इस प्रकार के महान् अद्वितीय गुणों से अलंकृत मैं जहां भी जाता था, वहीं मेरा स्वागत-सत्कार होता था। लोग मेरा जय-जयकार करते थे। 'दुःशासु आगात्' 'दुःशासुः आगात्'—'स्वागत हो इस दुर्जेय का' 'स्वागत हो इस दुर्जेय का' यही नारा सबके मुखों से सुनाई पड़ता था। जहां मैं पहुँचता था, वहां के दुर्जनों के चेहरों पर भय के चिह्न दिखाई देने लगते थे और उनके मुखों से भी 'दुःशासुः आगात्', 'दुःशासुः आगात्',—'अरे, यह दुर्जेय आ पहुंचा', 'अरे, यह दुर्जेय आ पहुँचा' ऐसे भयमूलक शब्द निकलने लगते थे। मैं दुर्जनों को विदलित करता हुआ, सज्जनों को हर्षित करता हुआ अपनी ऊर्ध्वारोहण की यात्रा में प्रवृत्त रहता था।।

यह है मेरे अतीत जीवन की एक झाँकी। पर अब ? अब तो यह सब कहानी एक कहानी ही रह गई है।

---

१. आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम। अथर्व २.११.१-५

[1]सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः
नि बाधते अमतिर्नग्नता जसुर्वेने वेवीयते मतिः ॥२॥

अब तो मेरी ऐसी अवस्था है, मानो मैं किसी विस्तीर्ण सरोवर से निकलकर एक सीमित कुएँ के अन्दर जा पड़ा हूँ। सरोवर में मैं स्वतन्त्रतापूर्वक विहार कर सकता था, वहां कोई रुकावट नहीं थी। किन्तु इस कुएँ में तो चारों ओर ईंटों की पक्की दीवार है। ये ईंटें मुझे बुरी तरह संतप्त कर रही हैं। जिस प्रदेश में निवास कर रहा हूं वह प्रदेश ही कुआं है, और चारों ओर स्थित विविध जड़-चेतन पदार्थ उस कुएँ की ईंटें हैं। ये मेरे चारों ओर स्थित पदार्थ मुझे उसी तरह संतप्त करते हैं, जैसे अनेक पत्नियों वाले पुरुष को वे पत्नियाँ सताती हैं। जैसे अनेक पत्नियां पुरुष को अपनी-अपनी ओर आकृष्ट करती हैं, पर सुख नहीं दे पातीं, वैसे ही चारों ओर स्थित ये विविध पदार्थ भी अपनी ओर आकृष्ट करके मुझे सुख से वंचित रखते हैं। कभी मैं जिह्वा से स्वादिष्ठ पदार्थों की ओर आकृष्ट होता हूं, कभी आंख से सुन्दर वस्तुओं की ओर आकृष्ट होता हूँ। इस प्रकार संसार के विविध विषय मेरी इन्द्रियों को अपनी-अपनी ओर खींचते हैं और उसका परिणाम होता है संताप। विषयों की ओर खिंचा हुआ मैं निरन्तर संतप्त हो रहा हूं।

विषयों में पड़कर मेरी बुद्धि भी भ्रष्ट हो गई है। जहाँ पहले मेरी बुद्धि का सिक्का सब कोई मानता था और मैं अपनी बुद्धि के बल से लोगों की जटिल से जटिल समस्याओं को सुलझाकर उन्हें चमत्कृत कर देता था, वहां आज मैं मतिहीनता से पीड़ित हो रहा हूं। यदि मैं किसी को अपनी बात सुनाना चाहता हूं तो संसार मुझे मूर्ख कह कर मेरी बात की उपेक्षा कर देता है।

नग्नता भी मुझे व्याकुल कर रही है। पहले मैं भूखों को भोजन देता था, नंगों का शरीर ढकता था, किन्तु आज मैं स्वयं भूखा-नंगा हूं। मैं आज निर्धन हूं, निर्बल हूँ, क्षीण हूँ। आज मेरी मति कांप रही है। जैसे बाज़ के आगे चिड़िया भय से फड़फड़ाने लगती है, वैसे ही विपत्तियों को सामने देखकर मेरी मति भी भय से फड़-फड़ा रही है।

अब मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, अपनी दीन दशा किसके आगे निवेदन करूँ?

[2]मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः
स्तोतारं ते शतक्रतो।

---

१. (पर्शवः) कुएँ की ईंटें—संसारकूप के पार्श्वस्थ पदार्थ (सपत्नीः इव) एक पति वाली स्त्रियों के समान (मा संतपन्ति) मुझे सता रहे हैं। (अमतिः) मतिहीनता (नग्नता) नंगापन (जसुः) क्षीणता—निर्धनता और निर्बलता (निबाधते) पीड़ित कर रही हैं। (वेः न) पक्षी के समान (मतिः वेवीयते) मेरी मति काँप रही है—फड़फड़ा रही है।

२. (शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों को करने वाले प्रभो (ते स्तोतारं मा) तेरे स्तोता मुझको (आध्यः व्यदन्ति) चिन्ताएँ खाये जा रही हैं (मूषः न शिश्ना) जैसे चुहिएं आटे से पान कराये गये सूत को खा जती हैं। (मघवन् इन्द्र) हे ऐश्वर्यों के राजा प्रभो, (सकृत् नः सु मृडय) एक बार तो मुझे सुखी कर दे। (अध नः पिता इव भव) और मेरे लिए पितृतुल्य हो जा।

सकृत् सु नो मघवन्निन्द्र मृडया—
धा पितेव नो भव ॥३॥

हे इन्द्र, हे प्रभो, सब स्थानों पर भटक कर अन्त में मैं तुम्हारी ही शरण आया हूँ। मेरी दशा की ओर दृष्टि तो डालो। जिस प्रकार आटे से पान कराये गये सूत को चुहियें खा जाती हैं, उसी प्रकार मुझे विविध आधियाँ, विविध मानसिक चिंताएँ खाये जा रही हैं। इस चिन्ता रूपी चुहियों से खाया जाकर मैं निरन्तर जर्जरित हुआ जा रहा हूँ। हे देव, तुम तो शतक्रतु हो, बड़े से बड़े विकट कर्मों को अनायास ही सम्पन्न कर देने वाले हो। तुम्हारी कृपादृष्टि होने पर पंगु पर्वत को लाँघ सकता है, अंधा देखने की शक्ति पा सकता है। गूँगा वाचाल हो सकता है रंक राजा हो सकता है, तो फिर मुझ दीन की दशा को सुधारना तुम्हारे लिए क्या कठिन है।

हे प्रभो, तुम 'मघवा' हो, अपार ऐश्वर्य के राजा हो। अपने ऐश्वर्यों के एक-दो कण मुझ पर भी बखेर दो। मुझे मतिहीन से मतिमान् कर दो, नग्न से वस्त्राभूषित कर दो, निर्धन से धनवान् कर दो, निर्बल से बलवान् कर दो। देवाधिदेव, एक बार फिर अपनी कृपादृष्टि को मेरी ओर फेर दो। अपने स्तोता को फिर से सुखी कर दो। मेरे पिता बन जाओ। पिता की तरह मुझ अबोध शिशु के सब अपराधों को भुला कर मेरे रक्षक और परित्राता हो जाओ।

मैं अपनी वर्त्तमान अवस्था से तंग आ गया हूँ। व्याकुल होकर पुकार मचा रहा हूँ। मेरा उद्धार करो, मेरा उद्धार करो।

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि ।
स इद्देवेषु गच्छति ॥ ऋ. १।१।४॥

पदार्थ—(अग्ने) हे परमेश्वर ! (यम् अध्वरम् यज्ञम्) आप जिस हिंसारहित यज्ञ के (विश्वतः) सर्वत्र व्याप्त होकर (परिभूः) सब प्रकार से पालन करने वाले (असि) हैं, (स इत्) वही यज्ञ (देवेषु) विद्वानों के बीच में (गच्छति) फैल जाता है।

भावार्थ—धर्म रक्षक परमात्मा, जिस हिंसादि दोषरहित स्वाध्याय और अन्न, वस्त्र, पुस्तक विद्यादानादि यज्ञ की रक्षा करते हैं, वही यज्ञ संसार में फैल कर सबको सुखी करता है। इस वैदिक उपदेश से निश्चय हुआ कि जो हिंसक लोग, गौ, घोड़ा, बकरी आदि उपकारक और अहिंसक पशुओं को मारकर, उनकी चर्बी और मांस से यज्ञ का नाम लेकर होम करते व खाते हैं, यह सब उन हत्यारे याज्ञिक लोगों की स्व कपोल कल्पित लीला है, वेदों से इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

---

१. नीचः सन्तमुदनयः परावृजं प्रान्धं श्रोणं श्रवयन्तसास्युक्थ्यः । ऋ० २.१३.१२

हमारे जीवन के काले और श्वेत दिन

(ऋग्वेद, मण्डल ६, सूक्त ९ की व्याख्या)

[1]अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च वि वर्तेते रजसी वेद्याभिः ।
वैश्वानरो जायमानो न राजावातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि ॥१॥

एक काला दिन है और एक श्वेत दिन है । ये दोनों अपने-अपने ज्ञातव्य घटना-चक्रों के साथ द्यावापृथिवी के अन्दर घूमते रहते हैं । घनघोर निशा की कालिमा से भूतल कृष्णवर्ण हो रहा है, नक्तंचर जीव इतस्ततः घूम रहे हैं, सर्वत्र काले दिनों का साम्राज्य छाया हुआ है । इतने में ही प्राची में वैश्वानर सूर्य की ज्योति झांकती हुई दिखाई देती है । सूर्यदेव राजा बनकर गगनमण्डल के सिंहासन पर आरूढ़ होते हैं । देखते ही देखते काले दिन का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जाता है और अपनी शुभ्र मुस्कराहट से सब को धवल करता हुआ श्वेत दिन सुशोभित होने लगता है ।

इस प्राकृतिक घटनाचक्र के समान ही हमारे जीवनों में भी काले दिन और श्वेत दिन आया करते हैं । कभी ऐसा समय आता है जब चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देता है, निराशा की काली घटाएं छा रही होती हैं, मार्ग नहीं दीखता, हम किंकर्त्तव्यविमूढ़ हुए होते हैं । अनेकों ऐसे दिन आते हैं जब हमारा मन शोकातुर होता है, नाना चिन्ताएं हमें सता रही होती हैं, उनसे निकलने का कोई उपाय नहीं सूझता । कभी धनहानि का दुःख है, और कभी अपने किसी प्रियजन के वियोग के कारण आंखों के आगे अंधेरा छा रहा है । यह संसार असार दीखता है, जीवन दूभर प्रतीत होता है । ऐसी भी घड़ियाँ आती हैं जब अन्तरात्मा की वाणी सुनाई देनी बन्द हो जाती है, आत्मसूर्य पर मोह का आवरण छा जाता है और हम कुमार्ग पर चलने लगते हैं । ये सब जीवन के काले दिन हैं ।

पर ये काले दिन सदा नहीं रहते । शीघ्र ही श्वेत दिन का आगमन होता है । जीवन के इन निराशा, भय, शोक, अज्ञान, अविवेक, तामसिकता के अन्धकारों को चीरकर आत्मसूर्य की दिव्य ज्योति उदित होती है । वैश्वानर आत्मा राजा बनकर हृदयासन पर विराजमान होते हैं । इन्द्रिय-रूप सब प्रजाओं को प्रकाश मिल जाता

---

१. मन्त्रार्थ—(अहः च कृष्णम्) एक काला दिन है, (अहः अर्जुनं च)और दूसरा श्वेत दिन है । ये दोनों (वेद्याभिः) अपनी ज्ञातव्य घटनाओं के साथ (रजसी) द्यावापृथिवी में (विवर्तेते) घूमते रहते हैं । (राजा न जायमानः) राजा के समान प्रकट होता हुआ(वैश्वानरः अग्निः) वैश्वानर अग्नि अर्थात् सूर्य या आत्मा(ज्योतिषा) अपनी ज्योति से (तमांसि) काले दिन के अन्धकारों को (अवातिरत्) विच्छिन्न कर देता है [तब श्वेत दिन आता] । है

है। एवं कभी काला दिन और कभी श्वेत दिन यह चक्र मनुष्य के जीवन में चलता रहता है।

आज दुर्भाग्य से मेरा जीवन भी काले दिन का क्रीडास्थल बन गया है। कालिमा से ग्रस्त होकर मैं कुछ भी नहीं देख पा रहा—

[1]नाहं तन्तुं न विजानाम्योतुं,
न यं वयन्ति समरेऽतमानाः।
कस्य स्वित् पुत्र इह वक्त्वानि,
परो वदात्यवरेण पित्रा ॥२॥

जीवन के पट को बुनने के लिए ताना कौन-सा तनूं और बाना कौन-सा डालूं, यह मैं कुछ भी नहीं जान पा रहा। न ही मुझे यह समझ में आ रहा है कि संसार में जीवन पट को बुनने वाले जो सिद्धहस्त बुनकर हैं, वे किस नमूने के जीवन पट को बुनते हैं, जिससे मैं उसी नमूने को सामने रखकर अपने जीवन को भी उसके अनुरूप बुन सकूं। अब मैं किससे पूछूं, किसे अपना गुरु बनाऊं? कौन-सा ऐसा ज्ञानी पुत्र है जो काल की दृष्टि से अपने पिता से 'अवर' होता हुआ भी ज्ञान की दृष्टि से उससे 'पर' हो गया है। वही पुत्र, वही सद्गुरु, मुझे जीवनपट को बुनने के विषय में वक्तव्य ज्ञान दे सकता है। अतः मैं उसी की खोज में हूँ। पर ऐसे अद्भुत ज्ञानी को मैं कहां पाऊं? जगत् के किस कोने में जाकर ढूंढूं? महान् राजनीतिज्ञों में उसकी खोज करूं या समाज सुधारकों में पाने का यत्न करूं? दीनों की कुटियों में देखूं या धनियों के राजभवनों में खोजूं? नगरों की खाक छानूं या हिमालय की कन्दराओं में जाकर दृष्टि दौड़ाऊं? नहीं, नहीं, वह इनमें से किसी स्थान पर नहीं मिलेगा। मेरा गुरु तो मेरे अन्दर ही बैठा हुआ है—

[2]स इत् तन्तुं स विजानात्योतुं
स वक्त्वान्यृतुथा वदाति।
य ईं चिकेतदमृतस्य गोपा
अवश्चरन् परो अन्येन पश्यन् ॥३॥

मेरा शरीरस्थ आत्मा ही मेरा गुरु है। उसका नाम वैश्वानर अग्नि है, क्योंकि वह शरीर की सब प्रजाओं का नेतृत्व करने की क्षमता रखता है। वह जीवन-पट के

---

१. (न अहं तन्तुं विजानामि) न मैं ताने को जानता हूँ, (न ओतुं विजानामि) न बाने को जानता हू, (समरे अतमानाः) संसार-संग्राम में गति करते हुए विद्वज्जनरूपी जुलाहे (यम्) जिस जीवन पट को (वयन्ति) बुनते हैं, उसको भी (न विजानामि) मैं नहीं जानता। (कस्यस्वित् पुत्रः) भला किसका पुत्र है, जो (अवरेण पित्रा परः) ज्ञान में अपने पिता को 'अवर' करके तथा स्वयं 'पर' होकर (इह) इस संसार में (वक्त्वानि वदाति) वक्तव्य ज्ञानों का उपदेश कर सकता है।

२. (स इत्) वह आत्मा ही (तन्तुं विजानाति) ताने को जानता है। (स ओतुं विजानाति) वही बाने को जानता है। (सः) वही (ऋतुथा) ऋतु-ऋतु में समय-समय पर (वक्त्वानि वदाति) वक्तव्य ज्ञानों का उपदेश करता है, (यः अमृतस्य गोपाः) जो अमरता का संरक्षक आत्मा (अवः चरन्) एक रूप से अवर होता हुआ भी (अन्येन परः) दूसरे रूप से 'पर' होकर (पश्यन्) देखता-भालता हुआ (ईं चिकेतत्) इस सब को जानता है।

ताने को भी जानता है, बाने को भी जानता है, और किस नमूने का जीवन-पट बुना जाना चाहिए यह भी जानता है। वह अमर है, 'अमृतस्य गोपा:' है, तो भी वह शरीर में जन्म लेता है। वह अपने जन्मदाता पिता से 'अवर' भी है और 'पर' भी है। उसका शरीर बाद में उत्पन्न होने से वह पिता से अवर है, किन्तु आत्मरूप में वह पिता से भी पहले विद्यमान था। और ज्ञान में भी वह पिता का पिता है। वह समय-समय पर मुझे वक्तव्य ज्ञानों का उपदेश करता भी रहता है, किन्तु मैं ही काले दिन के आसुरी कोलाहल से बधिर हुआ रहने के कारण उसकी दिव्य वाणी को सुन नहीं पाता।

उस आत्मरूप वैश्वानर ज्योति को शरीर में स्थापित करने वाले प्रभु मुझे निरन्तर कह रहे हैं—

[1]अयं होता प्रथमः पश्यतेमम्
इदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तो
ऽमर्त्यस्तन्वा वर्धमानः ॥४॥

"यह आत्मा श्रेष्ठ 'होता' है, जीवनरूपी यज्ञ का संचालक है। तुम इसे देखो, यह मार्त्य शरीर में रहने वाली अमर ज्योति है। यह आत्मा शरीर में प्रकट होकर स्थिर होकर उसमें बैठा हुआ है और शरीर की वृद्धि के साथ बढ़ रहा है, महिमान्वित हो रहा है।"

और, शरीर में केवल यह आत्मरूपी ज्योति ही नहीं है—

[2]ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं
मनो जविष्ठं पतयत्स्वन्तः।
विश्वे देवाः समनसः सकेता
एकं क्रतुमभि वियन्ति साधु ॥५॥

देखने के लिए, ज्ञान-प्राप्ति के लिए, सब मनुष्यों के अन्दर एक अन्य ध्रुव, वेगवत्तम ज्योति निहित है, जिसे 'मन' कहते हैं। इस मन से 'समनाः' होकर देवजन सम्यक् प्रकार से किसी क्रतु को—अर्थात् किसी बड़े संकल्प को, तदनुकूल विचार को तथा तदनुकूल महाकर्म को करने में समर्थ होते हैं। संसार में जो भी महापुरुष हुए हैं,

---

१. (अयम्) यह आत्मा (प्रथमः होता) श्रेष्ठ 'होता' है—जीवनयज्ञ का संचालक है, (इदम्) इसे (पश्यत) देखो। (मर्त्येषु) मरणधर्मा शरीरों के अन्दर (इदम् अमृतं ज्योतिः) यह अमर ज्योति है। (अयं सः अमर्त्यः) इस अमर आत्मा ने (जज्ञे) शरीर में जन्म लिया है, (ध्रुवः आनिषत्तः) यह शरीर में स्थिर रूप से आकर स्थित हो गया है, और (तन्वा) शरीर के साथ (वर्धमानः) महिमा को प्राप्त हो रहा है।

२. (दृशये) ज्ञान-दर्शन के लिए (ध्रुवं ज्योतिः मनः) एक ध्रुव ज्योति मन भी (निहितम्) शरीर के अन्दर निहित है, जो कि (पतयत्सु अन्तः जविष्ठम्) गति करने वाले पदार्थों में सबसे अधिक वेगवान् है। (विश्वे देवाः) समस्त देवजन अथवा समस्त इन्द्रियगण (समनसः) उस मन से युक्त होकर (सकेताः) सज्ञान होकर (साधु) सम्यक् प्रकार से (एकं क्रतुम्) किसी महासंकल्प को (अभिवियन्ति) आगे ले जाते हैं।

जिन्होंने कोई नवीन उज्ज्वल कार्य किये हैं, उन सब के अन्दर यह मनरूपी ज्योति जाज्वल्यमान रही है। इसी ज्योति के कारण वे कोई महासंकल्प कर सके, उस संकल्प की पूर्ति के लिए विचारशृंखला को फैला सके, योजनाएं बना सके, तथा जब तक उन्हें कार्यसिद्धि नहीं मिल गई, तब तक उन योजनाओं की पूर्ति के लिए कटिबद्ध और कार्यसंलग्न रह सके।

बाह्य सामाजिक महापुरुषों के समान ही शरीर नगरी में जो आँख, नाक, कान आदि ज्ञानेन्द्रियरूपी महापुरुष बैठे हुए हैं, वे सब भी ज्ञानग्रहणरूपी महाकार्य को इस मनोरूप ज्योति के माध्यम से ही सम्यक् प्रकार कर पाते हैं।

यह सब ठीक है। पर मेरी तो अवस्था ही भिन्न है—

[1]वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुर्
वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः
किं स्विद् वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये ॥६॥

मेरे दोनों कान इधर-उधर भाग रहे हैं, मेरी आँखें इधर उधर भाग रही हैं, मेरी नासिका, मेरी रसना, मेरी त्वचा, मेरी सभी ज्ञानेन्द्रियाँ इधर-उधर जा रही हैं। ऐसा हो क्यों न, क्योंकि हृदय में निहित मेरी आत्मज्योति ही धूमिल हो गई है। इसके धूमिल पड़ जाने से मन भी तम-आच्छन्न होकर श्रेष्ठ ऋतु न करता हुआ नाना कुत्सित विचारों में उलझ गया है। ऐसी अवस्था में भला मैं क्या कोई ऊंची ज्ञान की बात बोलूं, क्या कोई उच्च मनन-चिन्तन करूं? मेरी शरीर-नगरी का, मेरी देवपुरी अयोध्या का, सारा साम्राज्य ही अस्तव्यस्त हो गया है। राजा के सो जाने से किसी राज्य की जो अवस्था हो जाती है, वही अवस्था आत्म-रूपी सम्राट् के सो जाने से मेरी शरीर-नगरी की हो गई है। अब आवश्यकता इस बात की है कि मेरा आत्म-सम्राट् जागरित होकर मनरूपी सचिव को प्रकाश तथा प्रेरणा प्रदान करने लगे, जिससे प्रेरित होकर मन समस्त इन्द्रियों को अपनी उच्च वृत्तियों से प्रभावित कर सके। अतः मैं तो अपने आत्मा को जगाने के चिए बार-बार पुकार मचा रहा हूँ—

[2]विश्वे देवा अनमस्यन् भियाना-
स्त्वामग्ने तमसि तस्थिवांसम्।

---

१. (मे कर्णा) मेरे दोनों कान (वि पतयतः) इधर-उधर भाग रहे हैं, (चक्षुः वि पतयति) आंख इधर-उधर भाग रही है, (इदं ज्योतिः) यह आत्मरूपी ज्योति भी (यत् हृदये आहितम्) जो हृदय में निहित है, (वि पतियति) इधर-उधर भाग रही है। (मे मनः) मेरा मन (दूरे आधीः) बहुत दूर नाना चिन्ताओं में (विचरति) भटक रहा है। ऐसी अवस्था में (किंस्विद् वक्ष्यामि) भला मैं क्या कोई ऊंची बात बोल सकूंगा, (किमु नू मनिष्ये) क्या कोई उच्च चिन्तन कर सकूंगा।

२. (अग्ने) हे आत्मन्! (तमसि तस्थिवांसं त्वाम्) तुझे अन्धकार के आवरण के अन्दर स्थित हुआ देखकर (विश्वे देवाः) सब देव, सब इन्द्रियगण (भियानाः) भयाकुल हो (अनमस्यन्)नमस्कार कर रहे हैं, और पुकार मचा रहे हैं कि(वैश्वानरः) यह सब का नायक आत्मा (ऊतये) रक्षा के लिए (नः अवतु) हमें प्राप्त हो जाये, (अमर्त्यः) यह अमर आत्मा (ऊतये) रक्षा के लिए (नः अवतु) हमें प्राप्त हो जाये।

वैश्वानरो अवतु ऊतये नो
अमर्त्यो अवतु ऊतये नः ।।७।।

हे मेरे आत्मन् ! हे मेरे वैश्वानर राजन् ! तुम क्यों अन्धकार से आवृत हो गये ? तुम्हारी ही ज्योति से तो मेरे शरीर के सारे देव ज्योतिष्मान् बने हुए थे। जैसे असमय में ही अकस्मात् सूर्य पूर्णग्रहण को प्राप्त हो जाने पर, अन्धकारग्रस्त हो जाने पर पशु-पक्षियों में कोलाहल मच जाता है, उनके चेहरे पर उद्विग्नता के चिह्न दिखाई देने लगते हैं, वैसी ही गति हे मेरे आत्मन्, तुम पर पूर्णग्रहण लग जाने से, तुम पर अन्धकार छा जाने से, मेरे शरीरस्थ सब देवों की हो गई है। तुम सूर्य हो, मन चांद है, तुम्हारी ही ज्योति से वह प्रकाशित है। तुम्हीं बुझ गये, तो मन भी बुझ गया। न तुम्हारा प्रकाश रहा, न मन का प्रकाश रहा, यह अवस्था देख सब इन्द्रियदेवों में खलबली मच गई है। प्रकाश न पाकर वे भी निस्तेज हुए जा रहे हैं। वे सब भयभीत हुए हुए, आपके शरणागत होकर आपको नमस्कार कर रहे हैं और पुकार मचा रहे —हे देव, तुम्हारे प्रकाश के बिना हम जीवित नहीं रह सकते, तुम अपनी इस क्रीडा को बन्द करो, अधिक देर हमें अन्धकार में न रखो, अपनी रश्मियों से आवरण को छिन्न-भिन्न कर हंसते हुए हमारे सम्मुख प्रकट हो जाओ। तुम अमर हो, तुम हमारे कर्णधार हो, तुम हमारे रक्षक हो, रक्षा करो, रक्षा करो।

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः ।
देवो देवेभिरागमत् ॥ ऋ. १।१।५।।

पदार्थ—(अग्निः) परमेश्वर (होता) दाता (कविः) सर्वज्ञ (क्रतुः) सब जगत् का कर्त्ता (सत्यः) अविनाशी और सदाचारी विद्वान् जनों का हितकारी (चित्रश्रवस्तमः) जिसका अति आश्चर्य रूपी श्रवण है, वही प्रभु (देवः) उत्तम गुणों का प्रकाश करने वाला (देवेभिः) महात्मा विद्वानों का सत्संग करने से (आगमत्) जाना जाता तथा प्राप्त होता है।

भावार्थ—सर्वज्ञ, सवान्तर्यामी, सब जगत् का कर्त्ता, भक्तों को सुख का दाता और हितकर्त्ता है। जिसका श्रवण बिना पूर्व पुण्यों के नहीं मिल सकता, उस प्रभु का ज्ञान और प्राप्ति महात्मा विद्वान् सन्तजनों के सत्संग से ही होती है। संसार में जितने महापुरुष हुए हैं, वे सब अपने महात्मा गुरुओं की सेवा और उनके सत्संग से भक्त और ज्ञानी व पूजनीय बन गए। सत्संग की महिमा अपार है, लिखी और कही नहीं जा सकती।

मधु-वर्षा की प्रार्थना

मैं चाहता हूं कि संसार का प्रत्येक मानव सत्य की साधना करने वाला हो, और प्रत्येक सत्यसाधक के ऊपर मधु बरसे, मधु का झरना झरे। पवन अपनी शीतल मन्द लहरियों के साथ मधु बहा कर लायें। कल-कल करती सरिताएं अपनी सलिल-धाराओं के साथ मधु प्रवाहित करती हुई आयें। रसभरी ओषधियां अपने अमृत रस से हमारे जीवनों में मधु संचारित करें। इन सब से मधु पाकर हम मधुमय हो जायें।

मधु वाता ऋतायते,
मधु क्षरंति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥

ऋ० १।९०।६।

× × ×

कभी अपने श्याम आंचल से माता के समान सबको आच्छादित करती हुई और कभी अपनी शान्त, मधुर, चटकीली चन्द्रिका को छिटकाती हुई विश्रामदायिनी रात्रियाँ हमारे लिए मधुमती हों। जागृति और नवस्फूर्ति देने वाली स्वर्णिल उषाएं मधुमयी हों। समस्त पार्थिव लोक मधुमय हों। पितृतुल्य पालनकर्त्ता द्युलोक भी मधुमय हो।

मधु नक्तमुतोषसो,
मधुमत् पार्थिवं रजः।
मधु द्यौरस्तु नः पिता॥

—ऋ० १।९०।७।

× × ×

हरित पत्रों का दुकूल ओढ़े हुए वे वृक्ष-वनस्पति हमारे लिए मधुमय हों। रश्मियों से जगत् को प्रकाशित करने वाला पावन सूर्य मधुमय हो। अपने स्तनों से अमृतोपम दूध को क्षरित करने वाली गौएं मधुमयी हों।

मधुमान्नो वनस्पति-
र्मधुमाँ अस्तु सूर्यः।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥

—ऋ० १।९०।८।

+ + +

अहा ! यह सामने मधुमयी लता दिखाई दे रही है। यह 'मधुयष्टि' अपने अन्दर मधुरस को लेकर उत्पन्न हुई है। हे मधुलते ! मधु के लिए हम तुम्हें खनन करते हैं। तू मधुमय है, हमें भी मधुमय कर। हमें भी मधुमय कर।

इयं वीरुन्मधुजाता, मधुना त्वा खनामसि ।
ममेधोरधि प्रजातासि, सा नो मधुमतस्कृधि ॥

अथर्व० १ । ३४ । १ ।

× × ×

मेरे जिह्वाग्र पर मधु हो, जिह्वामूल में मधु हो। हे मधु, तुम मेरे एक-एक ज्ञान में, एक-एक संकल्प में, एक-एक कर्म में रम जाओ, तुम मेरे चित्त में बस जाओ।

जिह्वाया अग्रे मधु मे, जिह्वामूले मधूलकम् ।
ममेदह क्रतावसो, मम चित्तमुपायसि ॥

—अथर्व० १ । ३४ । २ ।

× × ×

मेरा घर से निकलना मधुमय हो, निकल कर कर्म क्षेत्र में पग रखना मधुमय हो। मेरी वाणी में मधु हो, प्रत्येक गति-विधि में मैं साक्षात् मधु हो जाऊं।

मधुमन्मे निक्रमणं,मधुमन्मे परायणम् ॥
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः ॥

—अथर्व० १ । ३४ । ३ ।

× × ×

अहा, प्रकृति में सर्वत्र मधु रमा हुआ है। ये रम्य पर्वत मालाएं सिर उठाए खड़ी हैं, इनके अन्दर भी मधु है। इनके अन्दर हरियाली का मधु है, इनके अन्दर स्रोतों और झरनों का मधु है, इनके अन्दर वृक्ष-लताओं और फल-फूलों का मधु है, इनके अन्दर विपिनों की शान्ति का मधु है, इनके अन्दर पाषाणों की कठोरता का मधु है, वह मधु हमें भी प्राप्त हो।

गौवों के अन्दर भी मधु है, गोरस का मधु है, परोपकारिता का मधु है, सौम्यता का मधु है, अहिंसा का मधु है, मातृत्व का मधु है, सरलता का मधु है, वह मधु हमें भी प्राप्त हो।

अश्वों के अन्दर भी मधु है, बल का मधु है, वेग का मधु है, शक्ति का मधु है, पुरुषत्व का मधु है। वह मधु हमें भी प्राप्त हो।

द्राक्षासव प्रभृति आसवों के अन्दर भी मधु है, बैलों में तेजकता का मधु है, विकार-शामकता का मधु है, स्वास्थ्यवर्धकता का मधु है, वह मधु हमें भी प्राप्त हो।

यद् गिरिषु पर्वतेषु, गोष्वश्वेषु यन्मधु ।
सुरायां सिच्यमानायां, यत् तत्र मधु तन्मयि ॥

—अथर्व० ९ । १ । १८ ।

× × ×

हे अश्विदेवो !

तुम भी हमारे जीवनों में मधु भरो, ऐसा मधु भरो जैसा सरघाओं (मधुमाक्षिकाओं) का मधु होता है, जिसमें मिठास ही मिठास होती है।

हे द्यावापृथिवि ! तुम अश्वियुगल कहलाते हो, तुम मधुरस से परिपूर्ण हो, हमें भी मधुरस प्रदान करो। हे सूर्य-चन्द्र ! तुम भी अश्विद्वय नाम से प्रसिद्ध हो, तुम्हारे अन्दर भी अनुपम मधु भरा है, हमें भी उस मधु से सनाथ करो। हे अहोरात्रो! तुम भी 'अश्विनौ' हो, तुम भी मधु से विकसित हो, उस मधु का विकास हमारे अन्दर भी करो। हे प्राणापानो ! तुम्हारी भी अश्विसंज्ञा है, तुम भी मधुसिक्त हो, हमें भी मधुसिक्त करो। हे शल्यचिकित्सक तथा ओषधिचिकित्सक वैद्यो ! तुम भी अश्वियुगल हो, तुम्हारे पास भी मधु है जिस मधु से तुम दुःखियों का दुःख, रोगियों का रोग और आतुरों की आतुरता हरते हो। उस मधु में से कुछ अंश हमें भी प्रदान करो।

हे शुभ मधु के अधिपतियो ! हमें ऐसा मधुमय कर दो कि हमारे अंग-अंग में मधु का वास हो जाए। हमारे आत्मा में मधु हो, हमारे प्राण में मधु हो, हमारी इन्द्रियों में मधु हो। तुम हमारी वाणी में वर्चस्विता का मधु उत्पन्न कर दो, जिससे हम परस्पर वर्चस्वती वाणी ही बोलें।

अश्विना सारघेण मा, मधुनांक्तं शुभस्पती ।
यथा वर्चस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु ।।

—अथर्व. ६ । १ । १६ ।।

अन्त में मैं पुनः प्रकृति की एक-एक कणिका से मधु की पुकार करता हूं। मेरे ऊपर मधु वर्षा हो, मेरे राष्ट्र पर मधु वर्षा हो, भूमि के राष्ट्रों पर मधु वर्षा हो, मानवमात्र मधु से स्नात हो जाये।

यदङ्गदाशुषे त्वमग्ने भद्रं कष्यिसि ।
तवेत्तत् सत्यमङ्गिर ।। ऋ. १।१।६।।

पदार्थ—(अङ्ग अग्ने) हे सबके प्रिय मित्र अग्ने ! (यत् दाशुषे) जिस हेतु से उत्तम-उत्तम पदार्थों के दाता पुरुष के लिए (भद्रं करिष्यसि) आप कल्याण करते हैं। (अंगिरः) हे अन्तर्यामी रूप से अंगों की रक्षा करने वाले परमात्मन् ! (तव इत्) यह आपका ही (तत् सत्यम्) सत्य व्रत शील स्वभाव है।

भावार्थ—हे सब की रक्षा करने वाले, सब के सच्चे प्यारे मित्र परमात्मन् ! जो धार्मिक उदार पुरुष, अन्न, वस्त्र, भूमि, स्वर्ण, रजतादि उत्तम पदार्थों के सच्चे पात्र विद्वान् महापुरुषों को प्रेम से दान करते हैं, उन धर्मात्माओं की आप सदा रक्षा करते हैं। ऐसा आपका अटल नियम और स्वभाव ही है।

मुझे पापों से बचाओ

जाने-अनजाने अनेकविध पाप करता रहता हूं। कभी मैं ईश्वरीय नैतिक नियमों को भंग करता हूं, कभी राष्ट्र के नियमों को तोड़ता हूं, कभी सामाजिक नियमों का उल्लंघन करता हूं, कभी संघ-संस्था आदि के नियमों की उपेक्षा करता हूं, कभी पारिवारिक नियमों को ठुकराता हूं और कभी मानवीयता के नियमों का तिरस्कार करता हूं। मेरा यह पाप या नियमभंग मुझ तक ही सीमित नहीं रहता। मेरा प्रभाव मेरे साथी-संगियों पर पड़ता है, उन साथी-संगियों का प्रभाव उनके मित्रों पर पड़ता है। इस प्रकार शनैः-शनैः सारा समाज ही कलुषित हुआ जा रहा है। एवं पाप करके मैं केवल अपनी ही हानि नहीं, अपितु समस्त समाज और राष्ट्र की हानि कर रहा हूं।

मैं राज्य के किसी अच्छे विभाग में एक उच्च पदाधिकारी था। सत्यनिष्ठा और ईमानदारी में मैं प्रसिद्ध था। लोग मेरा उदाहरण प्रस्तुत किया करते थे। मुझे देख मेरे अधीन कार्य करने वाले कर्मचारी भी कभी सत्य से विचलित नहीं होते थे। पर प्रलोभन आने पर मैं अपनी उस सत्यनिष्ठा पर स्थिर नहीं रह सका। एक बार किसी धनी पुरुष ने अपना कार्य सिद्ध कराने के लिए मुझे पाँच सहस्र रुपयों का प्रलोभन दिया। मैंने उस कार्य को सार्वजनिक हित में अच्छा न समझते हुए भी धन के लोभ से कर डाला। यह मेरा आचरण पाप था।

मैं एक बड़ा राजकीय इंजीनियर था। बनते हुए सड़क-पुल-बांधों का निरीक्षण किया करता था। गंगा के एक छोटे बांध के निर्माण के लिए दस लाख रुपये का ठेका एक ठेकेदार ने लिया। पचास हजार रुपये मेरे सम्मुख रिश्वत के रूप में प्रस्तुत किये गये थे। बांध में रेत भर दिया गया। वह बांध एक बरसात भी खड़ा न रह सका। गंगा की धार उसे बहा ले गई। देश का दस लाख रुपया मिट्टी में मिल गया। पर मुझे क्या, मेरी मुट्ठी में पचास सहस्र रुपया आ चुका था। अब मैं सोचता हूँ वह पाप था।

मैं किसी संस्था में अध्यापक था। पर मुझे परिश्रम से पढ़ाने तथा छात्रों को योग्य बनाने से कुछ सरोकार न था। किन्तु बिना पढ़ाये भी छात्रों को परीक्षा में पास कराने की एक कुंजी मेरे पास थी। छात्रों को परीक्षा में नकल मरवा कर शत-प्रतिशत परिणाम ला दिखाना मेरे बायें हाथ का खेल था। पर मैं अब समझता हूं मेरा यह कार्य देश के प्रति विश्वासघात था। देश के भावी नागरिक बच्चों के निर्माण का जो उत्तरदायित्व मैंने अपने ऊपर लिया था उसे न निभाकर मैं पाप का ही अर्जन करता रहा हूं।

मैं एक न्यायाधीश था, मेरे न्याय का सिक्का सब मानते थे। यह मनुष्य नहीं, भगवान् की ओर से भेजा हुआ देवदूत है, ऐसा मेरे विषय में लोग कहते थे।

पर एक मुकदमे में मैं अन्याय कर गया, झूठे को सच्चा सिद्ध कर गया, क्योंकि मेरी जेब गरम कर दी गई थी। पर मैं मानता हूं वह पाप था।

मुझे बम्बई जाना था। मन ने कहा सौ डेढ़-सौ रुपया किराये में क्यों फूंका जाये। बिना टिकट यात्रा करना भी तो एक कला है, क्यों न उसका ही प्रदर्शन करूं। मैं बड़ी सफाई से बम्बई की यात्रा कर आया। किराये में एक पैसा भी खर्च न हुआ। पर आज मैं अनुभव करता हूं, वह रेलवे विभाग के प्रति पाप था।

यों कहने को कहानियां और आप-बीतियां बहुत हैं। कहां तक सुनियेगा। मैं अपने नगर के गांधी-उद्यान में अपने परिवार के साथ भ्रमणार्थ निकल गया। पौधों और फूलों से सुसज्जित एक सुन्दर स्थान देख कर वहीं आसन जमाया। फलों वाले से केले-सन्तरे खरीदे, मूंगफलियां खरीदीं। गन्ने वाला आया तो गन्ने ले लिये। खाकर छिलके तथा खोइयां इधर-उधर बखेर कर उस रमणीक स्थान को अच्छा खासा कूड़ाघर बनाकर हम चल पड़े। अब सोचता हूं, सार्वजनिक स्थानों की पवित्रता की दृष्टि से यह भी एक पाप है।

मैंने अपने जीवन में अनेकों बार असत्य-भाषण किया है, चोरी की है, हिंसा भी की है, लूटपाट की है, सज्जनों को सताया है, माता-पिता गुरुजनों का अपमान किया है, मित्रों से विश्वासघात किया है, छल किया है, अन्य बहुत-से पाप किये हैं। आज ईश्वर की कृपा से मेरे अन्दर सद्बुद्धि उत्पन्न हो गई है। मैं आज संकल्प करता हूं कि पाप को अपने पास नहीं आने दूंगा।

अपेहि मनसस्पतेऽपक्राम परश्चर।
परो निर्ऋत्या आचक्ष्व बहुधा जीवतो मनः॥

ऋग्० १०.१६४.१

ओ मेरे मन को वश में कर लेने वाले पाप विचार, दूर होजा, मेरे पास से कदम बढ़ा जा, परे भटकता फिर। मैं जानता हूं, तेरी माँ 'निर्ऋति' बार-बार तुझे मेरे पास भेजती है। पर जा, अपनी माँ से जाकर कह दे कि मेरा मन खाली नहीं है। मुझ जीवित-जागरित का मन तो अनेक उत्तमोत्तम विचारों में लगा हुआ है। उसे तेरे स्वागत की फुर्सत नहीं है। अरे! यह क्या, तू जाकर फिर लौट आया। मेरे पास आकर बहकी-बहकी बातें मुझे फंसाने के लिए करने लगा। पर खबरदार—

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षाँ वनानि संचर
गृहेषु गोषु मे मनः॥ अथर्व. ६.४५.१

दूर हो जा, ओ मन के पाप! क्यों तू आकर बुरी-बुरी सलाह दे रहा है। चल, लम्बा बन यहां से, मुझे तेरी चाह नहीं है। जाकर वृक्षों से टक्कर मार, वनों में भटकता फिर। मेरा मन तो गो-सेवा में तथा घर के अन्य उपयोगी कार्यों में लगा हुआ है। मुझे तेरा आतिथ्य करने का अवकाश कहाँ है!

अरे! तू अब भी मेरे साथ चिपटा हुआ है, छोड़ने का नाम ही नहीं लेता। अच्छा ले, तू मुझे नहीं छोड़ता तो मैं ही तुझे छोड़ देता हूं। यह देख, तेरी लपेट को मैं बलात् खोल रहा हूँ—

यो नः पाप्मन् न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम् ।।

अथर्व० ६.२६.२

ओ पाप ! तू सूर्य की किरणों में जाकर जल जा, अग्नि के धुएं में घुट जा, शीत के पाले में गल जा, नदी के झागों के साथ बह जा—

मरीचीर्धूमान् प्रविशानु पाप्मन्
उदारान् गच्छ उत वा नीहारान् ।
नदीनां फेनाँ अनु तान् विनश्य ।। अथर्व. ६.११३.२

आज मैंने पापों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके देख लिया है। कुछ पाप ऐसे हैं जिन्हें मैं प्रबल इच्छा से करता हूं। जानबूझ कर मनसूबे बांध कर उन पापों में प्रवृत्त होता हूं। उन्हें करने में मुझे आनन्द आता है। एक बार की बात है, मैं अपने साथियों के साथ यात्रा पर निकला। हम रेलगाड़ी में सफर कर रहे थे। छात्रावस्था थी, हमारे मनों में शैतान ने प्रवेश किया। आपस में सलाह कर एक योजना बनाई। एक स्टेशन पर गाड़ी रुकी तो नीचे उतर कर बहुत से कंकर-पत्थर बटोर कर झोलों में भर लिये। गाड़ी चल पड़ी। रास्ते में पगडण्डी पर चलते हुए जो लोग मिलते उन्हें हम पत्थर मारते और आनन्द लेते। यह भूत हम पर ऐसा सवार हुआ कि हम उस डब्बे में बैठे हुए दो-चार अन्य यात्रियों के मना करने पर भी न माने। यह प्रबल इच्छा का पाप था।

कभी मैं इच्छा न होते हुए भी अनमने भाव से ही पाप में प्रवृत्त हो जाता हूं। एक बार गाँव के एक हरिजन से मेरे एक साथी की कहा-सुनी हो गई। वह तो आग बबूला हो गया। हरिजन होकर हमारे मुंह लगता है ! उसने चार-छः साथियों को इकट्ठा कर लिया। योजना बनाई कि रात को इसकी झोंपड़ी जला देंगे। मुझे भी साथ चलने के लिये कहा गया। मैं ऐसा दुष्ट कर्म बिल्कुल भी नहीं करना चाहता था। पर मना न कर सका। अनिच्छा के साथ चल दिया। रास्ते में कई बार मन में विचार आया कि लौट पड़ूं। पर उस पाप में तो मुझे साझीदार होना था, लौटता कैसे ? झोंपड़ी को लपटों ने घेर लिया। बेचारे गरीब का सब सामान राख हो गया। एक बच्चा भी झुलस गया। ग्लानि से मेरा मन भर उठा, क्यों मैंने यह पाप किया।

कभी-कभी मैं दबी इच्छा से पाप करता हूं। एक बार की बात है। मैं एक सेठ के यहाँ मुनीम था। वे रुपया-पैसा मुझ पर छोड़ निश्चिन्त रहते थे। एक दिन मुझे दो हजार रुपये की आवश्यकता पड़ गई। सेठ जी से माँगता तो वे भी दे देते। पर न जाने क्यों मन में पाप आ गया। मैंने दो हजार रुपया तिजोरी से निकाल लिया और तिजोरी का ताला खुला छोड़ दिया। दुकान के बाहर का ताला भी खुला छोड़ ऐसे लटका दिया जैसे बन्द हो। प्रातः काल दुकान के एक नौकर को साथ लेकर आया और सेठ जी को सूचना भिजवा दी कि चोरी हो गई है। स्वामी को ठगने का यह पाप मैंने डरते-डरते दबी इच्छा से किया था।

इस प्रकार अनेक पाप जैसे मैं जागते हुए क्रिया रूप में करता हूं वैसे ही सोते हुए स्वप्न में भी करता हूं। पर आज अग्निहोत्र की वेला में अग्नि प्रज्वलित कर वेद के शब्दों में मैं पुकार रहा हूँ कि हे अग्निदेव, जैसे तुम उज्ज्वल हो वैसे ही मुझे भी उज्ज्वल बना दो—

यदाशसा निःशसा अभिशसा
उपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः ।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतानि
अजुष्टानि आरे अस्मद्दधातु ॥ ऋ. १०.१६४.३

प्रबल इच्छा से, अनिच्छा, दबी इच्छा से, जागते-सोते सावधानी में असावधानी में जो पाप मुझसे होते रहते हैं उन सबको यह अग्निहोत्र का अग्नि अथवा तेजोमय प्रभु मुझसे दूर कर देवें ।

अग्नि के साथ-साथ मैं इन्द्र तथा वरुण से भी पापों से छूटने की प्रार्थना करता हूँ—

यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽपि मृषा चरामसि ।
प्रचेता न आङ्गिरसो दुरितात् पात्वंहसः ॥ अथर्व. ६.४५.३

हे विशाल जगत् के अधिपति इन्द्र ! तथा हे राजन् वरुण ! जो पापाचरण का व्यसन मुझे लग गया है उससे आप छुड़ा दीजिए । हे इन्द्र प्रभो ! आपको भक्तजन इन्द्र इस कारण कहते हैं कि आप परमैश्वर्यवान् हैं (इदि परमैश्वर्ये), पवित्र सद्गुणों की अपार सम्पत्ति आपके पास है । गुणों की उस सम्पत्ति में से कुछ अंश मुझे भी प्रदान कीजिये । इसलिये भी आप इन्द्र कहलाते हैं कि आप सब दुर्गुणों को, पाप-रिपुओं को विदारण करने वाले हैं (इदं पापं दृणाति इति इन्द्रः) । आप वीर हैं, आपके वीरता के गीतों से वेद भरे पड़े हैं । मेरे पापों के सम्मुख भी आप वीरता दिखाइये—

यः प्रथमः कर्मकृत्याय जज्ञे
यस्य वीर्यं प्रथमस्यानुबुद्धम् ।
येनोद्यतो वज्रोऽभ्यायतार्हि
स नो मुञ्चत्वंहसः ॥अथर्व. ४.२४.६

हे प्रभो ! आप प्रचेता वरुण हैं । वेद कहता है कि आप के पास सैकड़ों-सहस्रों पाश हैं । सदा जागरूक चित्त के साथ हाथ में दण्ड पाश लिये आप प्रत्येक मानव की गतिविधि को देख रहे हैं । आप की दृष्टि से कोई नहीं बच सकता । आप पाप करने वाले को तुरन्त अपने पाश से बाँध लेते हैं । और तब तक वह उस पाप से नहीं छूट पाता जब तक उस पाप का दण्ड नहीं भोग लेता । जगत् की प्रजा आप को पुकार कर कह रही है—

शतेन पाशैरभिधेहि वरुण एनं ।
मा ते मोचि अनृतवाङ् नृचक्षः ॥अ० ४.१६.७

"हे प्रभो, पापी को आप अपने शत-शत पाशों से जकड़ लो । वह आपसे बच कर न निकलने पाये ।"

आपके इस रूप को देखकर मैं भयभीत हो गया हूं । पाप करने पर आपके कठोर दण्ड से मैं बच नहीं सकता यह जान कर मेरे अन्दर पापों से पृथक् होने की अभिलाषा जाग गई है । हे वरुण, ऐसी कृपा करो कि मैं पापों से सर्वथा मुक्त हो जाऊं, जिससे आपके पाश मुझे न जकड़ कर अन्य पापियों को जकड़ें—

ये ते पाशा वरुणा सप्त सप्त
त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः ।
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं
यः सत्यवादी अति तं सृजन्तु ॥ अ० ४.१६.६

मेरे अन्दर आज पाप-व्यसन से छूटने की ऐसी आतुरता उत्पन्न हो गई है कि मैं समस्त देवपुरुषों के आगे हाथ पसार कर पाप-मुक्ति की भिक्षा मांग रहा हूँ—

यद् विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम् ।
यूयं नस्तस्मान् मुञ्चत विश्वे देवाः सजोषसः ॥

अथर्व. ६.११५.१

हे देवजनो ! हे वाल्मीकि, व्यास, राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, बुद्ध, शंकर, दयानन्द, गांधी, सदृश महापुरुषो ! आपका व्यवहार, आपका आचरण, आपका चलना-फिरना, उठना-बैठना, वार्त्तालाप करना सब पवित्र है, निष्कलंक है, निष्पाप है। आपसे शिक्षा लेकर मैं भी अपने जीवन को निष्पाप करूं। जो कुछ भी जाने-अनजाने पाप करता रहता हूँ, अपने दिव्य पवित्र जीवन की झांकी दिखाकर उनसे मुझे मुक्त कर दो।

यदि जाग्रद् यदि स्वप्न एन एनस्योऽकरम् ।
भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम् ॥२॥

मैं पापों के साथ ऐसे बंधा हुआ हूं, जैसे पशु खूंटों के साथ बंधा होता है। और जैसे वह पशु खूंटे के बन्धन से अपने आपको छुड़ाने के लिए छटपटा रहा है, वैसे ही मैं पाप से छूटने के लिए छटपटा रहा हूं। भूत और भव्य मुझे इस पाप से छुड़ा देवें। मैं अपने देश के, अपने समाज के, अपने वंश के भूत पर दृष्टिपात करता हूं। मेरा देश किसी समय कैसा महान् था। खोजने पर भी कहीं पाप के दर्शन नहीं होते थे। उस समय के राजा लोग विश्वास के साथ यह घोषणा कर सकते थे—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः ।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥

मेरे राज्य में कोई चोर नहीं है, कृपण नहीं है, शराबी नहीं है, अग्निहोत्र न करने वाला नहीं है, मूर्ख नहीं है, व्यभिचारी नहीं है, व्यभिचारिणी फिर कहां से हो।"

"मेरे समाज का भूत भी महान् था। मैंने बड़े-बूढ़ों के मुख से अपने समाज की पुरानी कहानियाँ सुनी हैं। मेरे समाज में धर्म के प्रति जो उत्साह था, कर्त्तव्य-पालन के प्रति जो तत्परता थी, सत्य के प्रति जो निष्ठा थी वह आज कहाँ दृष्टि-गोचर होती है ? मेरे वंश का भूत भी महान् था। मेरी माँ दादी सुनाती है कि मेरे पितामह-प्रपितामह कैसे धर्मात्मा थे, कैसी उनकी मान मर्यादा थी। एवं जब मेरे देश का, मेरे समाज का, मेरे कुल का भूत ऐसा उज्ज्वल है तो मेरा ही चरित्र

मलिन तथा पाप से कलंकित क्यों हो ? मैं आज से व्रत लेता हूँ कि भूत से शिक्षा लेकर अपने चरित्र का समग्र कालुष्य धो डालूंगा।

भव्य अर्थात् भविष्य भी मुझे पाप से छुड़ा सकता है। जैसे देश और समाज के नेता लोग भावी देश और समाज का काल्पनिक चित्र खींचकर तदनुसार देश और समाज को उन्नत करने का प्रयत्न करते हैं, वैसे ही मैं भी अपने भावी उज्ज्वल चरित्र के स्वप्न लेकर आज से उन्हें साकार करना प्रारम्भ करता हूं।

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव ।
पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः ॥

अ० ६.११५.३

हाँ, मैं पाप से छूटने के लिए आतुर हूं। जैसे पशु खूंटे से मुक्त होकर निश्चिन्त होता है। पंक में सना हुआ मनुष्य स्नान करके निर्मल होता है, जैसे छाछ-मिला घृत छन्ने से छाना जाकर पवित्र होता है, वैसे ही मैं पाप से मुक्त हो कर पवित्र होना चाहता हूं।

मैं अधीर हो रहा हूं। अब देर तक पाप के बन्धन से बँधा नही रह सकता। प्रकृति की एक-एक वस्तु से, जड़-चेतन सबसे पाप मुक्त होने की पुकार कर रहा हूं। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु, सूर्य, चाँद, सितारे, वनस्पतियां, पर्वत, नदियां, समुद्र, दिन, मास, ऋतुएं, वर्ष सभी पापों से मुक्त हैं। सभी अपने-अपने नियमों का पालन कर रहे हैं। तो फिर मैं ही एक अभागा प्राणी क्यों पापों में लिप्त रहूं ?

अहोरात्रे इदं ब्रूमः सूर्याचन्द्रमसावुभा ।
विश्वानादित्यान् ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ।।

अ० ११.६.५

दिन से कहता हूं, रात्रि से कहता हूं, सूर्य से कहता हूं, चाँद से कहता हूं, सब आदित्यों से कहता हूं कि मुझे पाप से छुड़ाओ।

वातं ब्रूमः पर्जन्यम् अन्तरिक्षमथो दिशः ।
आशाश्च सर्वा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ।। ६ ।।

वायु से कहता हूं, बादल से कहता हूं, आकाश से कहता हूँ, दिशाओं से कहता हूं, उपदिशाओं से कहता हूं कि मुझे पाप से छुड़ाओ।

पार्थिवा दिव्याः पशवः आरण्या उत ये मृगाः ।
शकुन्तान् पक्षिणो ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ।।८।।

पृथ्वीचर पशुओं से कहता हूं, गगनविहारी पक्षियों से कहता हूँ, वनचर मृगों से कहता हूं कि मुझे पाप से छुड़ाओ।

दिवं ब्रूमो नक्षत्राणि भूमिं यक्षाणि पर्वतान् ।
समुद्रा नद्यो वेशन्तास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ।।१०।।

आसमान से कहता हूं, सितारों से कहता हूं, भूमि से कहता हूं, समुद्रों से

कहता हूं, नदियों से कहता हूं, पर्वतों से कहता हूँ, जलाशयों से कहता हूं कि मुझे पाप से छुड़ाओ।

यज्ञं ब्रूमो यजमानम् ऋचः सामानि भेषजा।
यजूंषि होत्रा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १४.४॥

यज्ञ से कहता हूं, यजमान से कहता हूं, ऋग्वेद के मन्त्रों से कहता हूं, सामवेद के मन्त्रों से कहता हूं, यजुर्वेद के मन्त्रों से कहता हूं, अथर्ववेद के मन्त्रों से कहता हूं, अग्निहोत्र की हवियों से कहता हूं कि मुझे पाप से छुड़ाओ।

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा॥

अ० ६.१९.१

देवपुरुष मुझे पवित्र करें, विचारशील जन अपने सद्विचारों से मुझे पवित्र करें, प्रकृति के सब भूत मुझे पवित्र करें, पवित्रता का साक्षात् अवतार पतित-पावन प्रभु मुझे पवित्र करे।

अहा, देखो मेरी प्रार्थना सफल हो गई। आज मन का सब कालुष्य धुल गया। मैंने प्राप्तव्य को पा लिया। मैं निष्पाप हो गया। प्रभु की अनुकम्पा से मेरे अन्तस्तल में पवित्रता का स्रोत फूट निकला। आज विजय के उल्लास में मेरा हृदय बल्लियों उछल रहा है।

अजैष्म अद्य असनाम
अद्याभूम अनागसो वयम्॥ अ० १६.६.१
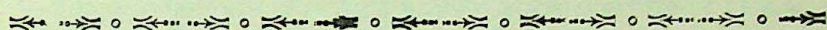
उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि॥ १।१।७॥

पदार्थ—(अग्ने) हे परमेश्वर! (दिवे दिवे) सब दिनों में (धिया) अपनी बुद्धि और कर्मों से (वयम्) हम उपासक जन (नमः) नम्रतापूर्वक आपको नमस्कार आदि (भरन्तः) धारण करते हुए (त्वा) आपके (उप) समीप (आ-इमसि) प्राप्त होते हैं (दोषा) रात्रि में और (वस्तः) दिन के समय में।

भावार्थ—हे सब के उपासनीय प्रभो! हम सब 'ओ३म्' नाम जो आपका मुख्य नाम है इससे और गायत्री आदि वेदों के पवित्र मन्त्रों से आपकी स्तुति, प्रार्थना, उपासना सदा करें। यदि सदा न हो सके, तो सायंकाल और प्रातःकाल में आप जगत् पिता के गुण संकीर्तन रूपी स्तुति वांछित मोक्षादि वर की याचना रूप प्रार्थना और आपके ध्यान रूप उपासना में अवश्य मन को लगायें, जिससे हम सब का कल्याण हो।

मानव शरीर की श्रेष्ठता

यह सर्वश्रेष्ठ है

जितने भी सजीव शरीर हैं उनमें मानव शरीर की महत्ता सबसे अधिक है। ऐतरेय उपनिषद् का एक छोटा-सा कथानक है। "सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य आदि देवों की रचना की। वे देव जब जगत् में अवतीर्ण हुए तब कहने लगे कि हमें रहने के लिए घर दीजिए, जहाँ रह कर हम अपने-अपने भोगों को भोग सकें। परमात्मा उनके आगे गाय का शरीर लाया। उन्होंने कहा यह हमें पसंद नहीं है। परमात्मा उनके आगे घोड़े का शरीर लाया। उन्होंने कहा यह भी हमें पसन्द नहीं है। फिर परमात्मा उनके आगे पुरुष का शरीर लाया। उसे देखते ही वे उछल पड़े और बोले यह बहुत अच्छा बना है, यह हमें पसन्द है। तुरन्त सब देव उसमें प्रविष्ट हो गये और उन्होंने अपना-अपना स्थान चुन लिया।" इस कथानक द्वारा उपनिषत्कार ने बहुत सुन्दर रूप में मानव-शरीर की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।

सचमुच मानव-शरीर की रचना और क्रियाशक्ति बड़ी अद्भुत है। इसीलिए अथर्ववेद का कवि इसके एक-एक अंग पर मुग्ध होता हुआ 'केन सूक्त' में कहता है—"अहो, किस विलक्षण कारीगर ने इस मानव-शरीर में एड़ियां बनाई हैं, किसने मांस भरा है, किसने टखने बनाये हैं, किसने परुओं वाली अंगुलियाँ बनाई हैं, किसने इन्द्रियों के छिद्र बनाये हैं, किसने तलवे और किसने मध्य का आधार बनाया है? किस उपादान कारण से लेकर इस शरीर में नीचे टखने और उसके ऊपर घुटने बनाये गये हैं, जाँघें जोड़ी गई हैं, दोनों घुटनों के जोड़ रचे गये हैं? घुटनों से ऊपर का यह धड़ जिसके चारों सिरों पर दो भुजा और दो जाँघों के चार जोड़ हैं, किस कारीगर ने बनाया है, किसने कूल्हे बनाये हैं जहां दोनों जांघों की हड्डियां जुड़ी हैं? अहो, कितने और कौन-से वे कारीगर थे जिन्होंने मनुष्य की छाती और गर्दन बनाई, स्तन बनाये, कपोल बनाये, कन्धे बनाये, पसलियां बनाईं? किस कारीगर ने वीरता के कार्य करने के लिए इसकी दोनों भुजायें बनाई हैं, किसने दोनों कन्धों को शरीर के साथ जोड़ा है? किसने इसके दो कान रचे हैं, दो नाक के छेद रचे हैं, दो आँखें रची हैं, मुख रचा है? सिर के ये सातों छेद किसने घड़े हैं? कहो, किसने दोनों जबाड़ों के बीच में जिह्वा रखी है, जिससे यह वाणी बोलती है? कौन-सा वह कारीगर है, जिसने इसका मस्तिष्क बनाया है, ललाट बनाया है, गले की घांटी बनाई है, कपाल बनाया है? किसने इसके दोनों जबाड़ों में शृङ्खलाबद्ध दांत जड़े हैं? किसने इस शरीर में रक्त भरा है जो लाल-नीला रूप धारण कर हृदयसिन्धु से आता-जाता है और ऊपर-नीचे इधर-उधर सब ओर प्रवाहित होता है? किसने शरीर में रूप भरा है, किसने इसमें नाम और महिमा निहित की है, किसने प्रगति,

ज्ञान और चरित्र को पैदा किया है ? किसने इसमें प्राण-अपान का ताना-बाना किया है, किस देव ने इसमें समान को निहित किया है ? किसने शरीर के ऊपर त्वचा का वस्त्र पहनाया है, किसने इसकी आयु रची है, किसने इसे बल प्रदान किया है, किसने इसे वेग दिया है ? किसने इसमें रेतस् भरा है, जिससे यह प्रजातन्तु का विस्तार करता है, किसने इसमें बुद्धि पैदा की है, किसने इसे वाणी और नृत्य कला दी है ? (अथर्व. १०.२.१-१७)

मानव-शरीर की अद्भुत कृति पर ऐसे ही उद्गार सहसा प्रत्येक के मुख से निकल पड़ते हैं। मनुष्य व्यक्त वाणी द्वारा अपने विचारों को दूसरों पर प्रकट कर सकता है, मन से चिन्तन कर सकता है, बुद्धि से बड़ी-बड़ी समस्याओं को सुलझा सकता है। ये सब बातें अन्य शरीरों की अपेक्षा मानव-शरीर में विलक्षण हैं, जिनके कारण उसे श्रेष्ठता का पद मिला है।

यह देवपुरी है

इस मानव-शरीर को देवों की पुरी कहा गया है। ब्रह्माण्ड के सब देव इस शरीर के अन्दर प्रविष्ट होकर अपना-अपना स्थान बना कर बैठे हुए हैं। अथर्ववेद ११.८ के अनुसार, "शरीर की हड्डियों को समिधायें बनाकर, रस-रक्त आदि को जल बनाकर, रेतस् को घृत बनाकर सब देवपुरुष शरीर में प्रविष्ट हुए-हुए हैं और यज्ञ रच रहे हैं। इस शरीर में सब जल, सब देवता, समस्त विराट् जगत् प्रविष्ट है, प्रजापति ब्रह्म भी इसके अन्दर है। सूर्य चक्षु रूप में, शरीर में, विद्यमान है, वायु, प्राण रूप में, शरीर के अन्य अंग अग्नि को मिले हैं। जो विद्वान् है वह इस मानव-शरीर को साक्षात् देवपुरी या ब्रह्मपुरी समझता है, क्योंकि जैसे गौएं गोशाला में रहती हैं वैसे ही सब देव इस शरीर में आकर बसे हुए हैं।"[1] ऐतरेय उपनिषद् के अनुसार, "अग्नि वाणी बनकर मुख में प्रविष्ट है, वायु प्राण बनकर नासिका में प्रविष्ट है, दिशायें श्रोत्र बनकर कानों में प्रविष्ट हैं, ओषधि-वनस्पतियां लोम बनकर त्वचा में प्रविष्ट हैं, चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट है, जल रेतस् बन कर शिश्न में प्रविष्ट है।"

अथर्ववेद १०.२.३१-३३ के अनुसार मानव-शरीर देवपुरी अयोध्या है, जिसमें आठ चक्र हैं, नौ द्वार हैं। इस पुरी के अन्दर एक ज्योति से आवृत हिरण्यय कोश है, जिसका नाम स्वर्ग है। उस हिरण्यय कोश के अन्दर एक यक्ष वास करता है, जिसे वे जानते हैं, जो ब्रह्मवित् हैं। इस प्रभ्राजमाना, हृदयहारिणी, यशोमयी, अपराजिता,

---

१. अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन्।
रेतः कृत्वाऽऽज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥२९॥

या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः ॥३०॥

सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य विभेजिरे।
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये ॥३१॥

तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥३२॥

स्वर्णिम देवपुरी में ब्रह्मा का वास है।[1]

इस प्रकार मानव-शरीर के सम्बन्ध में वैदिक दृष्टिकोण यह है कि यह एक देवपुरी है, आंख-नाक-कान आदि सब अवयव एक-एक देवता के प्रतिनिधि हैं। वैदिक विचार के अनुसार यह शरीर मल-मूत्र का चोला, या त्यागने योग्य वस्तु नहीं है। मानव आत्मा को अपना सौभाग्य समझना चाहिए कि देवताओं की यह पुरी उसे रहने के लिए मिली है।

यह यज्ञस्थली है

इस शरीर के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य में यह विचार भी मिलता है कि यह एक यज्ञस्थली है। इस शरीर को हमें विषय भोग का ही साधन न समझ कर एक पवित्र यज्ञगृह समझना चाहिये। अथर्व. १०.२.१४ "किस एक देव ने पुरुष-शरीर के अन्दर यज्ञ को निहित किया है।"[2] यह कहता हुआ मानव-शरीर की यज्ञमयता को स्वीकार करता है। अथर्व. ११.८.२९ जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, शरीर की यज्ञमयता को बताता हुआ कहता है कि शरीर में हड्डियां ही समिधाएं हैं, रुधिर-वस्ति आदि के आठ प्रकार के जल ही यज्ञिय जल हैं और रेतस् ही घृत है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी हड्डियों को समिधा तथा रेतस् को घृत कहा गया है।[3] यजुर्वेद ३४.४ में मन की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि इस मन के द्वारा ही सप्तहोता यज्ञ चलता है।[4] यह सप्तहोता यज्ञ पांच ज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि इन सात होताओं से परिचालित होने वाला ज्ञानप्राप्ति रूपी यज्ञ ही है, जो कि शरीररूपी यज्ञशाला में होता है। गोपथ ब्राह्मण में शारीरिक यज्ञ की व्याख्या इस प्रकार की गई है—"पुरुष का शरीर यज्ञ-भूमि है। मन ही इस यज्ञ का ब्रह्मा है, प्राण उद्‌गाता है अपान प्रस्तोता है, व्यान प्रतिहर्ता है, आँख अध्वर्यु है, प्रजापति सदस्य है, अन्य अंग होत्राशंसी हैं, आत्मा

---

१. अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः॥
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम्॥

आठ चक्र=शरीर में नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, ललित, आज्ञा, सहस्रार। नौ द्वार—दो कान, दो नाक के छेद, दो आँखें, एक मुख, दो अधोद्वार। हिरण्यय कोश=आनन्दमय कोश। यक्ष ब्रह्मा—आत्मा या परमात्मा।

२. को अस्मिन् यज्ञमदधादेको देवोऽधि पूरुषे।

३. अस्थि वा एतत् यत् समिधः। एतद् रेतो यदाज्यम्। तै. ब्रा. १.१.९.४

४. येन यज्ञस्तायते सप्तहोता।

यजमान है।'[1] छान्दोग्य उपनिषद् के एक प्रकरण में मानव शरीर के यज्ञ का वर्णन इस रूप में मिलता है—'पुरुष-शरीर एक यज्ञ है, उसकी आयु के प्रथम चौबीस वर्ष प्रातः सवन है...अगले चौवालीस वर्ष माध्यन्दिन सवन हैं....उससे आगे अड़तालीस वर्ष तृतीय सवन हैं....इस प्रकार यह एक सौ सोलह वर्ष चलने वाला यज्ञ है। इस भावना से जो अपने शरीर को चलाता है वह एक सौ सोलह वर्ष जीवित रह सकता है।''[2]

यह ऋषिभूमि है

यह शरीर ऋषियों की भूमि भी है। यजुर्वेद ३४.५५ में कहा है कि 'इस शरीर में सात ऋषि बैठे हुए हैं, वे सातों बिना प्रमाद किये इस शरीर की रक्षा कर रहे हैं। जब यह शरीर सोता है तब सातों ऋषि आत्मलोक में चले जाते हैं, पर दो देव ऐसे हैं जो उस समय भी शरीर में जागते रहते हैं।''[3] निरुक्त की व्याख्या के अनुसार पांच ज्ञानेन्द्रियां, छठा मन और सातवीं बुद्धि ये शरीर के सात ऋषि हैं। ये सदैव शरीर की रक्षा में तत्पर रहते हैं। यदि शरीर में से ये ऋषि निकल जायें और मनुष्य आंख से देख न सके, नासिका से गन्ध ग्रहण न कर सके, कान से सुन न सके, जिह्वा से स्वाद का ज्ञान और त्वचा से स्पर्श का ज्ञान न कर सके, मन से चिन्तन और बुद्धि से विवेचन न कर सके, तो कोई भी आकर उसकी हिंसा कर सकता है। आंख आदि के अभाव में उसे ज्ञान तक न होगा कि कोई उसकी हिंसा करने आया है। जब यह शरीर सोता है तब आंख आदि ऋषि स्थूलरूप में अपना कार्य करना बन्द कर देते हैं, उस समय वे आत्मलोक में चले जाते हैं। किन्तु उस समय भी आत्मा और प्राण ये दो देव शरीर में जागते रहते हैं, क्योंकि ये भी कहीं चले जायें तो शरीर मृत ही हो जाये।

अथर्व १०.८.९ में शरीर के विषय में यह वर्णन मिलता है कि "यह एक चमस (चम्मच या पात्र) है जिसका बिल नीचे की ओर और पृष्ठ ऊपर की ओर है, तो भी इसमें सब प्रकार का यश निहित है। इस चमस में सात ऋषि भी बैठे हुए हैं जो इसकी रक्षा कर रहे हैं।''[4] यह चमस शरीर का मूर्धा (गर्दन से ऊपर का हिस्सा) ही है। साधारण चमसों का पृष्ठ नीचे और छिद्र ऊपर रहता है नहीं तो उनमें रखी वस्तु गिर जाये। पर यह ऐसा अद्भुत चमस है कि इसका छिद्र (मुख) नीचे की ओर है और पृष्ठ (खोपड़ी) ऊपर है, तो भी इसमें विश्वरूप यश (सर्वविध ज्ञान) भरा हुआ है, गिरता नहीं। सात ऋषि पूर्वोक्त सात इन्द्रिय रूपी ऋषि हैं जो इसमें बैठे हुए इसकी रक्षा कर रहे हैं। ये सात ऋषि दो कान दो नासाछिद्र, दो आँखें और एक मुख ये भी हो सकते हैं जैसा कि अथर्व वेद १०,२,६[5] में परिगणित किये गये हैं।

---

१. पुरुषो वै यज्ञस्तस्य...मन एव ब्रह्मा, प्राण उद्गाता, अपानः प्रस्तोता, व्यानः प्रतिहर्ता, वाग् होता, चक्षुरध्वर्युः प्रजापतिः सदस्य :, अङ्गानि होत्राशंसिनः, आत्मा यजमानः—गोपथ उ० ५.४

२. छान्दोग्य अध्याय ३, खण्ड १६

३. सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जाग्रतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ।

४. तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।

५. कः सप्त खानि वितर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम।

शतपथ ब्राह्मण (१४-४-२) में भी इस चमस में रहने वाले ये ही ऋषि बताये गये हैं और यह कहा गया है कि दो कान गौतम और भारद्वाज हैं, दो नासिकाएं वसिष्ठ और कश्यप हैं, दो आंखें विश्वामित्र और जमदग्नि हैं, मुख अत्रि है।

एवं वैदिक विचार के अनुसार हमें शरीर के प्रति यह भाव रखना चाहिये कि यह ऋषियों की पवित्र तपोभूमि है और इसे किसी प्रकार दूषित नहीं होने देना चाहिये।

यह रथ है

वैदिक साहित्य में इस शरीर को रथ भी कहा गया है। कठ उपनिषद् में यह रूपक इस प्रकार है—"शरीर एक रथ है, आत्मा रथस्वामी है, बुद्धि उसका सारथि है, मन लगाम है, इन्द्रियां घोड़े हैं, विषय चरागाह हैं। जो बुद्धि रूपी सारथि का उपयोग नहीं करता और मन रूपी लगाम को ताने नहीं रखता उसकी इन्द्रियां वश से बाहर हो जाती हैं, जैसे दुष्ट घोड़े सारथि के वश से बाहर हो जाते हैं। पर जो बुद्धि रूपी सारिथ का उपयोग करता है और मन रूपी लगाम को ताने रखता है, उसकी इन्द्रियां वश में रहती हैं, जैसे सधे घोड़े सारथि के वश में रहते हैं।"[1]

शरीर की रथ से उपमा वेदों में भी दी गई है। ऋग्वेद २.१८.१ में कहा है—"मनुष्य-शरीर इन्द्र का रथ है, जिसमें चार युग हैं, तीन कशायें (चाबुक) हैं, प्रातःकाल साफ-सुथरा और नया करके जोता जाता है, सदिच्छाओं और बुद्धियों से चलाया जाता है।[2] ऋग्वेद १०.५९.१० में इसी शरीर-रथ के लिए कहा गया है कि "इन्द्र ! तू शरीर-रथ को खींचने वाले बैल को ठीक प्रकार से चला जो कि उशीनराणी के रथ को खींचता है। सूर्य और पृथ्वी तेरे इस रथ के दोषों को दूर करते रहें, जिससे कोई भी रोग तुझे न सताये।"[3] इस मन्त्र में यह कल्पना की गई प्रतीत होती है कि यह शरीर एक रथ है जिसमें देवराज इन्द्र (आत्मा) अपनी रानी उशीनराणी[4] (बुद्धि) सहित बैठे हुए हैं, प्राण रूपी बैल (अनड्वान्[5]) इस रथ को खींच रहा है। इन्द्र (आत्मा) को कहा गया है कि तू इस प्राण रूपी बैल को ठीक प्रकार से चला, नहीं तो यह शरीर-रथ को रोगादि के गढ़ों में गिरा देगा। सूर्य की किरणों से और पृथिवी की ओषधि-वनस्पतियों से इस रथ के मलों को दूर करते रहना चाहिए, अन्यथा यह रथ रोगग्रस्त होकर चलना बन्द कर देगा।

ऋग्वेद १०.१३५.३ में मनुष्य को सम्बोधन कर कहा है—"हे कुमार, बिना पहियों के ही चलने वाले एक ईषादण्ड वाले, चारों ओर वेग से चलने-फिरने वाले जिस नवीन रथ को तूने मन से पसन्द किया है उस पर तू बिना समझे-बूझे ही बैठा

---

१. कठ, तृतीय वल्ली, श्लोक ३-९

२. प्राता रथो नवो योजि सस्निश्चतुर्युगस्त्रिकशः सप्तरश्मिः।
दशारित्रो मनुष्यः स्वर्षाः स इष्टिभिर्मतिभी रंह्योभूत्॥
इन्द्र=आत्मा। चार युग=दो भुजायें, दो टांगें। तीन चाबुकें—धन, बुद्धि, प्राण। सात लगामें—सप्त शीर्षण्य प्राण। दस घोड़े—दस इन्द्रियां।

३. समिन्द्रेरय गामनड्वाहं य आवहदुशीनराण्या अनः।
भरतामप यद् रपो द्यौः पृथिवि क्षमा रपो मोषु ते किञ्चनाममत्॥

४. उशी—इच्छावान्, नरः—आत्मा, तस्य पत्नी उशीनराणी बुद्धिः।

५. अनः शरीररथं वहतीत्यनड्वान् प्राणः। "अनड्वान् प्राण उच्यते" अथर्व. ११.४.१३

हुआ है।"[1] यह बिना पहियों के चलने वाला नवीन रथ शरीर ही है जिसमें मेरुदण्ड रूपी एक ईषादण्ड है। वेदमन्त्र मनुष्य को कहता है कि हे कुमार! जिस रथ को लोग जन्मजन्मान्तरों की तपस्या के बाद कभी पाते हैं, ऐसा उत्तम मानव-शरीर रूपी रथ तुझे मिला है, तो भी आश्चर्य की बात है कि उस पर बिना देखे-भाले, बिना सोचे-समझे तू बैठा हुआ है। तेरी स्थिति वैसी ही है जैसी उस मनुष्य की जो कि रथ पर बैठा हुआ है, परन्तु जिसे यह नहीं मालूम कि जाना कहां है। तुझे चाहिये कि तू जीवन में अपना कोई उच्च लक्ष्य निर्धारित करे और उस तक पहुँचने के लिये शरीर रूपी इस उत्तम रथ का उपयोग करे।

इससे अगले मन्त्र में कहा है कि "हे कुमार, यदि तू अपने इस शरीर-रथ को प्रियजनों के निर्देश के अनुसार चलायेगा तभी यह समगति के साथ चल सकेगा और तभी विघ्न-बाधाओं की नदियां बीच में पड़ने पर नौका पर चढ़ाये हुए रथ की तरह यह कुशलता के साथ उन नदियों को पार कर सकेगा।"[2]

ऋग्वेद के इसी सूक्त में इस शरीर-रथ की उत्पत्ति के विषय में प्रश्न उठाया गया है—"किसने कुमार को पैदा किया है, किसने उसका रथ (शरीर) रचा है, कौन हमें आज यह बतायेगा कि कैसे यह अनुदेयी (एक की गोद से दूसरे की गोद में दिये जाने योग्य) होता है।"[3] अगले दो मन्त्रों में इसका उत्तर दिया है—"पहले यह माता के गर्भ से पैदा होता है, उसके बाद अनुदेयी होता है। पैदा होते समय पहले इसका सिर निकलता है, फिर यह सारा बाहर आ जाता है। यह यम के (जीवात्मा के) बैठने का रथ है, जो कि देवनिर्मित है। देखो, यह इसकी नाड़ी चल रही है, यह वाणियों से परिष्कृत है।"[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे प्राचीन साहित्य में शरीर को एक रथ कल्पित किया गया है और मनुष्य को यह सन्देश दिया गया है कि जैसे किसी रथ पर चढ़ कर वह सुदूर स्थान पर पहुँच सकता है, वैसे ही इस शरीर रूपी रथ को पाकर उसे अपने दूरवर्ती लक्ष्य तक पहुँचाना चाहिये, तभी उसका इस उत्तम रथ को पाना सार्थक होगा।

आओ, इस सर्वश्रेष्ठ शरीर को पाकर हम सचमुच सर्वश्रेष्ठ बनें। इस देवपुरी में निवास कर हम सचमुच देव बनें। इस यज्ञस्थली में रहते हुए हम सचमुच यज्ञ करें। इस ऋषिभूमि में वास करते हुए हम सचमुच ऋषि बनें। इस अनुपम रथ पर चढ़ कर हम सचमुच दिव्य पथ के पथिक बनें।

---

१. यं कुमार नवं रथमचक्रं मनसाकृणोः। एकेषं विश्वतः प्राञ्चमपश्यन्नधितिष्ठसि॥

२. यं कुमार प्रावर्तयो रथं विप्रेभ्यस्परि। तं सामानु प्रावर्तत समितो नाव्याहितम्॥ ऋ० १०.१३५.४

३. कः कुमारमजनयद् रथं को निरवर्तयत्। कः स्वित् तदद्य नो ब्रूयादनुदेयी, यथाभवत्॥ ५

४. यथाभवदनुदेयी ततो अग्रमजायत। पुरस्ताद् बुध्न आततः पश्चान्निरयणं कृतम्॥६
इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते। इयमस्य धम्यते नाडीरयं गीर्भिः परिष्कृतः॥७

शिक्षाशास्त्र के कतिपय सूत्र

वैदिक विचारधारा के अनुसार बालक शैशव पार कर मातृमान्-पितृमान् बन आचार्यवान् होने के लिए गुरुकुल में प्रविष्ट होता है तथा आचार्य रूपी अग्नि में अपने आप को समिधा बना कर ज्ञान-ज्योति से प्रदीप्त हो उठता है। प्रथम आश्रम शिक्षा का आश्रम है। वेदों का अध्ययन करते हुए हमें शिक्षाशास्त्र के कई उपयोगी सूत्र प्राप्त होते हैं।

शिक्षक के गुण

अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य-सूक्त में आचार्य को मृत्यु, वरुण, सोम, ओषधि और पयः कहा गया है।[1] इससे शिक्षक के गुणों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। प्रथम शिक्षक को मृत्यु होना चाहिए। उस के अन्दर मार सकने का सामर्थ्य होना चाहिये। विद्यार्थी यदि कोई कुसंस्कार लेकर आया है तो उन्हें मारे बिना वह उसका निर्माण नहीं कर सकता। जो आदर्श माता-पिता की सन्तान होते हैं तथा सब प्रकार के कुप्रभावों से दूर होते हैं ऐसे उत्तम विद्यार्थी शिक्षक को सदा नहीं मिल पाते। जिन कुसंस्कारों को साथ लेकर विद्यार्थी आते हैं वे कई प्रकार के हो सकते हैं। कइयों का शब्दोच्चारण दूषित होता है, कई मिथ्या ज्ञान लेकर आते हैं। वायु क्यों चलती है? आंधी क्यों आती है? सूर्य-चन्द्र का ग्रहण क्यों होता है? भूकम्प क्यों आता है? आदि बातों का उत्तर आप नवप्रविष्ट बालकों से पूछिये तो कई मनोरंजक अज्ञान की बातें सुनने को मिलेंगी। उदाहरणार्थ एक बालक से पूछा गया कि वायु क्यों चलती है? उसने बताया एक बहुत बड़ा दैत्य है जिसका सिर आकाश को छूता है, उस के मुख की फूंक ही यह हवा है। जिस दिशा में जाकर वह फूँक मारता है उसी दिशा से हवा आती है। फिर कई नैतिक दृष्टि के कुसंस्कार भी बालकों में होते हैं, जैसे असत्य-भाषण, चोरी, गाली देना आदि। सफल शिक्षक वह है जो मृत्यु बन कर विद्यार्थी के सब कुसंस्कारों को मार सके। मारना भी एक कला है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति निपुण नहीं हो सकता। शिक्षक को अवश्य ही इस कला में निपुण होना चाहिए। इसके लिए उसे एक अच्छा बालमनोविज्ञानवेत्ता होना आवश्यक है।

शिक्षक का दूसरा गुण है वरुणत्व। वरुण वेद के प्रथित देवों में से एक है। उसके पास सैकड़ों-सहस्रों पाश हैं। उसके अनेकों गुप्तचर हैं, जो सहस्राक्ष होकर सर्वत्र घूमते हैं। उनकी दृष्टि से कुछ भी नहीं छिपता। ज्यों ही कोई व्यक्ति पाप करता है, वे देख लेते हैं और वरुण अपने पाश से उसे बांध लेते हैं। शिक्षक में भी यह गुण होना आवश्यक है। शिक्षक की दृष्टि बहुत पैनी होनी चाहिये। उसे छात्रों

---

१. आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः।
जीमूता आसन् सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम्॥
अथर्व० ११.५.१४

की प्रत्येक गतिविधि का परिचय रहना चाहिये। छात्र कौन-सी अच्छी या बुरी आदतों में पड़ रहा ह, जिन में उसे उत्साहित या अनुत्साहित करने की आवश्यकता है, यह उसे ज्ञात होना चाहिए। अपने प्रत्येक छात्र पर ऐसी सूक्ष्म दृष्टि रखने वाला तथा आवश्यकतानुसार अंकुश रख कर छात्र को बुराई से बचाने वाला शिक्षक ही वरुण है।

फिर शिक्षक को सोम होना चाहिए। सोम का अर्थ है चांद। शिक्षक चांद के समान सौम्य, आकर्षक एवं प्रिय हो। जैसे चन्द्र से सब आह्लादित होते हैं, वैसे ही छात्र शिक्षक के सान्निध्य में आह्लाद अनुभव करें। उसके व्यक्तित्व में आकर्षण होना चाहिए। वेद में सोम का दूसरा अर्थ सोमलता भी होता है। सोमलता का रस अपूर्व वीरता, बुद्धि, मनीषा को प्रदान करता है, वसे ही शिक्षक को छात्र में इन गुणों को भरने वाला होना चाहिए।

शिक्षक की अगली विशेषताएं हैं उसका 'ओषधि' तथा 'पयः' होना। ओषधि रोगों को दूर करती है, वैसे ही शिक्षक छात्र के शारीरिक एवं मानसिक रोगों को हरण करने वाला हो। शिक्षक का कार्य केवल पुस्तक का पाठ पढ़ा देना नहीं है। छात्र के शारीरिक एवं नैतिक निर्माण का उत्तरदायित्व भी उस पर है। कई बार छात्र भयंकर दुर्व्यसनों का शिकार हो जाता है, ओषधि बन कर छात्र का उनसे उद्धार करने का गुरुतर कार्य भी शिक्षक का है। शिक्षक 'पयः' या दूध भी है। दूध पुष्टिकारक होता है, वैसे ही शिक्षक को छात्र की सर्वतोमुखी पुष्टि करने वाला होना चाहिए। छात्र यह अनुभव करे कि शिक्षक के समीप रह कर प्रतिदिन मैं नवीन पुष्टि प्राप्त कर रहा हूं, मेरा ज्ञान, मनोबल, चरित्रबल आदि उत्तरोत्तर अधिकाधिक पुष्ट हो रहा है।

मन्त्रोक्त इन गुणों के अतिरिक्त शिक्षक के कतिपय अन्य गुण भी विविध वैदिक प्रसंगों से सूचित होते हैं। वेद में शिक्षक को वाचस्पति नाम से स्मरण किया गया है। इससे प्रकट होता है कि जिस वाङ्मय या विषय का वह अध्यापन करता है, उस पर उसका प्रभुत्व होना चाहिए। साथ ही वाक्कला में भी उसे निष्णात होना चाहिए, जिससे उस विषय को समझा सके। कुछ शिक्षकों में ज्ञानगाम्भीर्य तो होता है, पर वाक्कला नहीं होती; कुछ में वाक्कला होती है पर ज्ञानगाम्भीर्य नहीं होता। उत्तम शिक्षक वह है, जिसमें ये दोनों विशेषताएं हों, यह वाचस्पति शब्द से सूचित होता है। शिक्षक के लिए प्रयुक्त होने वाले वैदिक 'ब्रह्मणस्पति' तथा 'बृहस्पति' शब्द भी यही बताते हैं। वेद में शिक्षक को 'वसोष्पति' भी कहा है। वसु का अर्थ विद्याधन लें तो यह शब्द शिक्षक की अगाध विद्वत्ता की ओर इंगित करता है। पर केवल विद्याधन ही नहीं, सामान्य धन अर्थ भी लेना यहां उचित है। शिक्षक की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी होनी चाहिए, उसे अच्छा वेतन मिलना चाहिए, जिससे वह निश्चिन्त होकर सर्वात्मना अपने छात्रों के निर्माण में समय दे सके।

शिक्षक-शिष्य का सम्बन्ध

शिष्य जब शिक्षणालय या गुरुकुल में प्रविष्ट होने के लिए शिक्षक के पास पहुँचता है, तब वह उसका उपनयन संस्कार करता है। वेद का कथन है कि "शिक्षक उपनयन संस्कार कर के शिष्य को अपने गर्भ में धारण कर लेता है। उसे तीन रात्रि अपने उदर में रखता है। फिर जब शिष्य जन्म लेता है तब उसके दर्शन के लिए देव

एकत्र होते हैं।"[1] यह वर्णन शिक्षक-शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध पर अच्छा प्रकाश डालता है। शिष्य का शिक्षक के अधीन रहना वैसा ही है जैसे शिशु का माता के गर्भ में रहना। गर्भस्थ शिशु का जैसा निकट सम्बन्ध माता के साथ होता है, वैसा ही शिष्य का शिक्षक के साथ होना चाहिए। यज्ञोपवीत देने को उपनयन संस्कार इसी लिए कहा जाता है, क्योंकि इसके द्वारा शिक्षक शिष्य को अपने समीप लाता है। शिष्य तीन रात्रि शिक्षक के गर्भ में वास करता है। यहां तीन दिन न कह कर तीन रात्रि कहना साभिप्राय है। रात्रि अज्ञान का उपलक्षण है। शिष्य त्रिविधि अज्ञान से घिरा होता है। प्राथमिक शिक्षा प्राप्त कर चुकने पर प्रथम रात्रि पार हो जाती है, माध्यमिक शिक्षा पूर्ण होने पर द्वितीय रात्रि एवं उच्च शिक्षा समाप्त होने पर तृतीय रात्रि। यह आजकल की दृष्टि से स्थूल वर्गीकरण है, अन्यथा ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड तथा उपासनाकाण्ड विषयक अज्ञान को एक-एक रात्रि माना जाता है। तीन रात्रि गर्भ में रह कर फिर शिष्य जन्म लेता है, स्नातक बनता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को द्विज इसीलिए कहते हैं कि एक बार वे माता के गर्भ से तथा दूसरी बार आचार्य के गर्भ से जन्म लेते हैं। जब वह स्नातक बनता है तब देवजन उसके दर्शनार्थ एकत्र होते हैं। इस आलंकारिक वर्णन से वेद निर्दिष्ट करता है कि शिक्षक का शिष्य के प्रति माता का-सा सम्बन्ध हो तथा माता गर्भस्थ शिशु के लिए जो बलिदान करती है, शिक्षक भी शिष्य के लिए वही बलिदान करने के लिए उद्यत रहे।

अथर्ववेद के प्रथम सूक्त में शिष्यों की ओर से शिक्षक को कहलाया गया है कि "आप देव मन के साथ पुनः-पुनः हमारे बीच मे आइये।"[2] इस से सूचित होता है कि वैदिक शिक्षक-शिष्य में ऐसा मधुर प्रेमपूर्ण सम्बन्ध है कि शिष्य शिक्षक को पुनः-पुनः अपने मध्य आने के लिए निमन्त्रित करते हैं। दूसरी बात यह है कि शिक्षक को शिष्यों से व्यवहार करते समय सदा 'देव मन' से युक्त होना चाहिए। कभी शिक्षक दुर्बलतावश अपने मन को शिष्यों के प्रति 'अदेव' न होने दे। इसी सूक्त में आगे कहा है—"हम शिक्षक को निमन्त्रित करते हैं, शिक्षक हमें निमन्त्रित करे।"[3] पारस्परिक स्नेह, विनय, आदर, शिष्टाचार एवं माधुर्य का कैसा सुन्दर निदर्शन है।

शिक्षण-पद्धति

शिक्षक की शिक्षण-पद्धति कैसी हो, इस पर भी प्रस्तुत सूक्त सुन्दर प्रकाश डालता है। शिक्षण पद्धति नीरस न होकर सरस होनी चाहिए, छात्र को उकता देने वाली न होकर आकर्षक होनी चाहिए। हे गुरुवर, आप ऐसे खेल-खेल में पढ़ाइये कि जो कुछ मैं सुनूं वह मुझ में ही रहे।"[4] "जो कुछ हम गुरुमुख से सुनें उससे संगत रहें, वह हमें विस्मृत न हो।"[5] शिक्षक को चाहिए कि जैसे प्रत्यञ्चा से दोनों धनुष्कोटियों को तान दिया जाता है, वैसे ही अपनी वाणी से शिष्य की बुद्धि में

---

१. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥ अथर्व. ११.५.३

२. पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।

३. उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम्।

४. वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम्।

५. संश्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि।

पाठ्य विषय को ऐसा तान दे, स्पष्ट कर दे, कि वह कभी विस्मृत न हो।[1] शिक्षक इन गम्भीर, विशाल द्यावापृथिवी को, इनके अन्दर विद्यमान वस्तुओं को छात्र के सम्मुख ऐसा गढ़-छील कर रख दे कि वे उस के सामने हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जायें, तभी तो छात्र उन्हें हृदयंगम कर सकेगा।[2] 'जो कुछ हम सुनें वह विस्मृत न हो', यह कहकर वेद इस ओर ध्यान आकृष्ट करता प्रतीत होता है कि अध्यापक इस शैली से पढ़ाये कि छात्रों को कक्षा में ही पाठ स्मरण हो जाये। छोटे बालकों के लिए यह शैली विशेष रूप से उपादेय है।

ऋग्वेद का ज्ञानसूक्त शिक्षण के एक अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व की ओर निर्देश करता है। "एक-सी आँखों वाले तथा एक से कानों वाले भी सहाध्यायी मनोवेग में असमान होते हैं। कुछ मुखपर्यन्त पानी वाले सरोवर के तुल्य होते हैं, तो कुछ कक्ष-पर्यन्त पानी वाले सरोवर के तुल्य, और अन्य कुछ यथेच्छ स्नान करने योग्य लबालब सरोवरों के तुल्य होते हैं।"[3] इसमें इस तथ्य की ओर प्रकाश डाला गया है कि साथ पढ़ने वाले छात्रों की ग्रहणशक्ति एक-समान नहीं होती। अतः शिक्षक को पढ़ाते समय सभी छात्रों का ध्यान रखना चाहिए। इस प्रकार पढ़ाना चाहिए कि सभी स्तर के छात्र विषय को ग्रहण कर सकें। यदि वह तीव्र बुद्धि वाले छात्र के स्तर से पढ़ायेगा तो शेष छात्र वंचित रह जायेंगे। एक और बात जो इससे ध्वनित होती है वह यह है कि क्योंकि छात्रों का मनोजव या मनोरुचि भिन्न-भिन्न होती है, अतः पाठ्य विषयों के चुनाव में उनकी रुचि का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। प्रत्येक छात्र प्रत्येक विषय में निष्णात नहीं बन सकता। अतः सभी छात्रों को एक-से विषय पढ़ाना उन पर अत्याचार है। पाठ्यक्रम में वैकल्पिक विषयों के निर्वाचन की सुविधा रहनी चाहिए।

सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ क्रियात्मक ज्ञान की शिक्षा भी दी जानी चाहिये, क्योंकि "जिसने पुष्प-फल-रहित या क्रियात्मक-ज्ञान-रहित विद्या को सुना है, वह मानो दूध न देने वाली गाय को साथ लिए फिरता है।"[4] शिक्षण में विषय के अनुरूप विचारात्मक, वर्णनात्मक, संवादात्मक, कथात्मक आदि शैलियों का प्रयोग किया जाना चाहिए।[5] ऋग्वेद के मण्डूक सूक्त में उपमा द्वारा उस शैली की ओर संकेत किया गया है, जिसमें पहले शिक्षक कोई वाक्य बोलता है और उसके पीछे शिष्य

---

१. इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया।
वाचस्पतिर्नियच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम्॥
अथर्व० १.१.३

२. आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च।
अथर्व० ११.५.८

३. अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः। आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे॥ ऋ. १०.७१.७

४. अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्। वही, ५।

५. वेदों में इन सब शैलियों का प्रयोग मिलता है। यथा, नासदीय सूक्त में विचारात्मक शैली, प्राकृतिक वर्णनों में वर्णनात्मक शैली, उर्वशी-पुरुरवा संवाद आदि में संवादात्मक शैली, इंद्र-वृत्र युद्ध आदि में कथात्मक शैली। विविध शैलियों के परिचयार्थ द्रष्टव्य : लेखक का शोधप्रबन्ध 'वेदों की वर्णन-शैलियां', श्रद्धानन्द शोध संस्थान, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय।

उसे दोहराते हैं—'मेंढक के पीछे दूसरा मेंढक ऐसे ही बोल रहा है जैसे शिक्षक के पीछे शिष्य ।[1], अधिकतर बालकों के शिक्षण में इस शैली के प्रयोग की आवश्यकता होती है ।

शिक्षा में तप का स्थान

प्रधान शिक्षक या आचार्य आश्रम में प्रविष्ट करते समय शिष्य की कटि में मेखला बांधता है । वह कहता है मेखला-बन्धन करता हुआ मैं इसे ब्रह्मचर्य, तप और श्रम से बाँधता हूं ।[2] शिक्षाकाल में ब्रह्मचर्य, तप और श्रम का बहुत महत्त्व है । ब्रह्मचर्य का अर्थ है ज्ञान, सत्य एवं सदाचरण की साधना का व्रतग्रहण तथा उस के पालन की अनवरत निष्ठा व तत्परता । ब्रह्मचर्य का प्रचलित स्थूल अर्थ भी इसी में समाविष्ट है । तप का अर्थ है द्वन्द्वसहन, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख आदि को समभाव से प्रसन्नतापूर्वक सहन करना एवं सरल, सादा जीवन व्यतीत करना । श्रम से अभिप्राय है शारीरिक व्यायाम । वैदिक मेखल-बन्धन इन सब का प्रतीक है । शिक्षा-काल में इनके अनुष्ठान से मति, मेधा, इन्द्रियशक्ति आदि का भी विकास होता है ।[3] ब्रह्मचर्य सूक्त में लिखा है कि ब्रह्मचारी जब स्नातक बनकर बाहर आता है, तब जनता उसे कहती है कि तुम हमें प्राण, अपान, व्यान, वाक्, मन, हृदय, ब्रह्म, मेधा, चक्षु, श्रोत्र, यश, अन्न, रेतस्, रुधिर और उदरशक्ति प्रदान करो । इन सब वस्तुओं तथा शक्तियों को उसने ब्रह्मचर्याश्रम में तपस्या एवं साधना के साथ संचित किया होता है ।[4] ब्रह्मचर्यकाल में वह जिन परा एवं अपरा रूपी गुह्य विद्याओं का अध्ययन करता है, उन्हें तप द्वारा ही अपने अन्दर रक्षित करता है ।[5] इस प्रकार वैदिक दृष्टि में तप और व्रतपालन की बड़ी महिमा है । आज भी शिक्षा-शास्त्री इस का महत्त्व समझते हैं ।

इसके अतिरिक्त शिक्षा-विज्ञान के अन्य भी अनेक तत्त्व वेदों में बिखरे हुए हैं, जिनका अन्वेषण एवं संकलन उपयोगी हो सकता है ।

● ● ●

१. शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः । ऋ. ७.१०३.५

२. तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैधं मेखलया सिनामि । अथर्व. ६.१३३.३

३. सा नो मेखले मतिमाधेहि मेधामतो नो धेहि तप इन्द्रियं च । वही, मन्त्र ४ ।

४. प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् । चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ।। तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे । अथर्व० ११.५.२५.२६ ।

५. वही, मन्त्र १०, तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी ।

बालकों का भिखारी आचार्य

मृत्यो रहं ब्रह्मचारी यदस्मि
निर्याचिन् भूतात् पुरुषं यमाय ।
तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेण-
अनयेनं मेखलया सिनामि ॥१॥

अथर्व. ६.१३३.३

मैं आज झोली पसार कर भिक्षा मांगने निकला हूं। द्वार-द्वार पर जाकर भिक्षा के लिए पुकार लगाऊंगा । अरे, यह क्या, कुछ लोग मेरी ही ओर चले आ रहे हैं ! पूछते हैं—बाबा, तुम्हें क्या चाहिए ? भाइयो, मैं बालकों की भीख मांगता हूं । एक, दो, तीन, चार, जिसके पास जितने बालक हों, मुझे भिक्षा में दे दो । क्या कहते हो? मैं बालकों का क्या करूंगा? मैं उन्हें अपने आश्रम में ले जा कर मारूंगा, उनका वध करूंगा, उन्हें मृत्यु की भेंट चढ़ाऊंगा । अरे, यह क्या, यह तो भगदड़ मच गई । बालकों को पकड़ने वाला बाबा आया, बालकों को पकड़ने बाला बाबा आया—यह कहते हुए सब भागे जा रहे हैं। देखते ही देखते सब घरों के किवाड़ बन्द हो गये । नगर भर में बिजली की तरह समाचार फैल गया । सब के मुख पर यही चर्चा है । कोई कहता है, ऐसे साधु बहुत से छूटे हुए हैं । कोई कहता है, ये बालकों को पकड़ कर बेच देते हैं; बालकों का मांस पकाने वाले कई होटल शहरों में पकड़े गये हैं । जितने मुंह उतनी बाते हैं ।

अब मैं क्या करूं? किसे अपनी बात समझाऊं? जहां जाता हूं लोग डर कर भागते हैं । अच्छा, ये कुछ सयाने लोग खड़े हैं । उनके पास जाता हूं । क्या है बाबा, क्या चाहिए? यह ले आटा, दाल, चावल, रोटी, कपड़ा, कम्बल । नहीं, नहीं, मुझे इनमें से किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है । मैं तो बालकों का भिखारी हूं, बालक मांगता हूं । क्या तू बालकों को पकड़ कर ले जाता है ? नहीं, मैं बालकों को पकड़ कर नहीं ले जाता । जो कोई खुशी से अपने बालक देता है, उसके बालकों को मैं अपने साथ ले जाता हूं । हमने सुना है तू बालकों को ले जाकर मार डालता

अर्थ—१. (यत् अहम्) क्योंकि मैं (नृत्योः) मृत्यु का—मारने वाले का (ब्रह्मचारी अस्मि) ब्रह्मचारी हूं, अतः मैं (यमाय) यम को भेंट चढ़ाने के लिए, मारने के लिए (भूतात्) पिताओं से (पुरुषम्) बालकों को (निर्याचन्, माँगता हूं। (तम् एनम्) उन बालकों को (अहम्) मैं (अनया मेखलया) इस मेखला द्वारा (ब्रह्मणा) ब्रह्म से, (तपसा) तप से, और (श्रमेण) श्रम से (सिनामि) बांधूंगा ।

है। हां, तुमने ठीक सुना है। मैं उन बालकों को ले जाकर मारता हूं। क्या कहा, तू उन्हें क्यों मारता है ? मैं उन्हें मारता हूं—जिन्दा करने के लिए, मार कर फिर नया जन्म देने के लिए। क्या तू कोई जादूगर है? हां मैं जादूगर हूं, मैंने अपने गुरु से अनोखी जादूगरी सीखी है।

सुनो, मैं तुम्हें अपनी रामकहानी सुनाता हूं। किसी समय मैं भी अपने मां-बाप का लाड़ला पांच-सात वर्ष का बालक था। एक दिन एक ओजस्वी चेहरे वाला बाबा आया, जो अपने आपको 'मृत्यु' कहता था। वह मुझे मेरे माता-पिता से माँग कर ले गया। शहर से दूर नदी पार जंगल में एकान्त स्थान पर बने हुए अपने आश्रम में ले जाकर उसने मुझे छोड़ दिया। वहाँ मेरे जैसे कुछ और भी बालक थे। उन्हें मारने की तैयारियां हो रही थीं, तो भी वे प्रसन्न थे। मैं भी उन्हीं में जा मिला। बाबा ने छुरियों से मेरा एक-एक अंग काटा और मुझे अपने पेट के हवाले किया। बारह वर्ष पेट में पड़ा रहा। बारह वर्ष बाद मेरा नया जन्म हुआ। मैंने देखा मैं बिल्कुल बदल गया हूँ। कोई मुझे पहचानता ही नहीं था। फिर बाबा का आदेश हुआ, आगे चल कर यह कार्य तुझे करना होगा। और उन्होंने मुझे अपनी जादूगरी के भेद बताने शुरू कर दिये। आज उन बाबा के स्थान पर मैं बाबा बना घूमता हूँ और लोगों से कहता हूँ कि मुझे अपने बालक दो, मैं उन्हें आदमी बना दूंगा।

आप सोचते होंगे पहेली तो वैसी की वैसी रही। अच्छा तो मैं आपको और अधिक सन्देह में रखना नहीं चाहता, सब रहस्य साफ-साफ बताये देता हूं। जो बाबा मुझे मेरे माता-पिता से माँग कर ले गया था वह एक गुरुकुल का आचार्य था। आचार्य का ही वैदिक नाम 'मृत्यु' है, क्योंकि जैसे मृत्यु मनुष्यों को मार कर नया जन्म देता है, वैसे ही आचार्य बालक के अज्ञान को मार कर बालक को नया जन्म देता है। मैंने अभी आपसे कहा था कि बाबा ने मुझे छुरियों से काट कर अपने पेट में रख लिया और बारह वर्ष तक रखे रखा। यह बात भी ठीक है। किन्तु छुरियाँ लोहे की साधारण छुरियाँ नहीं हैं। वे हैं यम-नियमों की छुरियाँ। यम-नियमों की छुरियाँ चला कर आचार्य ने मेरे सब कुसंस्कारों को नष्ट कर दिया, मानो मुझे मार डाला। मार कर फिर पेट में रख लिया। पेट में रखने का भाव ब्रह्मचर्यसूक्त के इस मन्त्र से स्पष्ट हो जाता है—"आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। अथर्व ११.५.३" आचार्य उपनयन संस्कार करके ब्रह्मचारी को अपने गर्भ में धारण करता है, और बारह वर्ष तक या जब तक उसका आचार्याधीन गुरुकुलवास पूर्ण नहीं होता, वह उसे अपने गर्भ में धारण किये रहता है। बारह वर्ष बाद आचार्य ने मुझे नया जन्म दिया अर्थात् स्नातक बनाया। फिर उसने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से मेरे अन्दर कुछ प्रस्फुटित होने वाले भावी गुणों का बीज देख मुझे अपने पास ही रख लिया और मुझे आचार्यत्व की शिक्षा देनी प्रारम्भ की, या यों कहिये कि उसने मुझे अपनी जादूगरी के भेद बताने शुरू कर दिये। शनैः-शनैः मुझे पूर्ण जादूगर हुआ जान मुझ पर अपना भार सौंप उसने इस कार्य से सन्यास ले लिया। इस प्रकार मैं 'मृत्यु' का ब्रह्मचारी हूं और अब आचार्य कहाता हूं।

अब मुझ पर यह भार है कि मैं नगरवासियों से बालकों को मांगने निकलता हूं। जो कोई मुझे अपने बालक देगा, उसके बालकों को मैं अपने आचार्य की सिखाई हुई पद्धति से मारकर नया जन्म दूंगा। तुमने सुना होगा नवप्रविष्ट बालक

को आचार्य मेखला धारण करवाता है, तगड़ी पहनाता है। मैं भी उस बालक को मेखला बांधूंगा। शायद तुम पूछो कि मेखला बांधने से क्या होगा ? मूंज से या सूत के थोड़े से धागों से बनी हुई मेखला क्या कर लेगी ? मेखला ब्रह्मचर्याश्रम की जान है, वह कटिबद्धता का प्रतीक है। कटिबद्ध होने का या कमर कस लेने का मुहावरा प्राचीन आर्यों के मेखलाधारण से ही चला है। मेखला का व्यवहार यद्यपि आजकल छूट सा गया है, तो भी मेखला संसार से बिल्कुल लुप्त नहीं हुई है, न हो सकती है। आजकल उसका स्थान कमरपेटी, लंगोट, धोती के कमरबन्ध आदि ने ले लिया है। अतः मेखला बाँध कर मैं बालक को कटिबद्ध करूंगा। ब्रह्मचर्याश्रम में जिन बातों के लिए कटिबद्ध रहना आवश्यक है उन में से मुख्य हैं— ब्रह्म, तप और श्रम। इसलिए मेखला द्वारा मैं अपने पास आये बालक को ब्रह्म, तप और श्रम से बाँधूंगा। ब्रह्म का अर्थ ज्ञान है, तप का अर्थ नियम पालन है, और श्रम का अर्थ परिश्रम है। मेखला बाँध कर मैं उसे इन तीनों बातों के लिए कटिबद्ध करूंगा। जो बालक मेरे पास आयेंगे, वे प्रसन्नतापूर्वक अपनी कटि में मुझ से मेखला बंधवाते हुए कहेंगे—

य इमां देवो मेखलामाबबन्ध
यः संननाह य उ नो युयोज।
यस्य देवस्य प्रशिषा चरामः
स पारमिच्छात् स उ नो विमुञ्चात्॥

अथर्व. ६.१३३.१

जिस आचार्य देव ने हमें मेखला बांधी है, जिसने हमें कटिबद्ध किया है, जिसने हमें नियमपालन में नियुक्त किया है, जिस देव के अनुशासन में हम चल रहे हैं, वह हमें इस ब्रह्मचर्याश्रम से पार करे, वह हमें स्नातक बनाकर लोककल्याण के लिए बाह्य जगत् में छोड़े।

आहुतासि-अभिहुते, ऋषीणामसि-आयुधम्।
पूर्वा व्रतस्य प्राश्नती, वीरघ्नी भव मेखले॥२॥

हे मेखले, तू चारों ओर से पुकारी जाती है। हम भी तुझे पुकारते हैं। तू ऋषियों का आयुध है। तेरे द्वारा ऋषिजन आलस्य, प्रमाद आदि को मार भगाते हैं। ब्रह्मचर्यव्रत धारण के पूर्व तू शरीर पर आकर बंधती है। तू हमारे वीर से वीर काम, क्रोध, आलस्य आदि शत्रुओं को नष्ट करने वाली है।

श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधिजाता
स्वसा ऋषीणां भूतकृतां बभूव।
सा नो मेखले मतिमाधेहि मेधाम्
अथो नो धेहि तप इन्द्रियं च॥४॥

हे मेखले, तू श्रद्धा की पुत्री है, तू तप रूपी पिता की सन्तान है। तू उज्ज्वल भूत का निर्माण करने वाले ऋषियों की बहिन है। वह तू हमें मति दे, मेधा दे, तप दे, इन्द्रियों का सामर्थ्य दे।

यां त्वा पूर्वे भूतकृतः ऋषयः परिबेधिरे ।
सा त्वं परिष्वजस्व मां, दीर्घायुत्वाय मेखले ॥५॥

प्राचीन भूत का निर्माण करने वाले बड़े-बड़े ऋषिजन जिस तुझ को अपनी कमर से बांधते रहे हैं, वह तू हे मेखले, मेरी कटि का आलिंगन कर और मुझे दीर्घायुष्य प्रदान कर ।

अच्छा, तो अब मेरी कहानी पूरी होती है । अब तो आप लोग मुझ से भयभीत नहीं होंगे ? अब तो बालकों को मारने-खाने वाले मुझ बाबा को आप लोग अपने बालक निःसंकोच दे सकेंगे ? और, क्या में यह आशा भी करूं कि मुझे अपने आश्रम का आवश्यक कार्य छोड़कर बालकों को मांगने के लिए आपके पास आने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी । आप लोग स्वयमेव अपने बालकों को लेकर मेरे आश्रम में आयेंगे और कहेंगे—

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् ।
यथेह पुरुषोऽसत् ॥ यजुर्वेद २.३३

हे गुरुजनो, हम अपने इस प्यारे बालक को कमल-फूलों की माला पहना कर आपके समीप लाये हैं । आप उपनीत कर इसे अपने गर्भ में धारण कीजिए, जिस से यह आदमी बन जाये ।

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिवम् ।
वर्धमानं स्वे दमे ॥ ऋ. १।१।८॥

पदार्थ—(राजन्तम्) प्रकाशमान (अध्वराणाम्) यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों का वा धार्मिक पुरुषों का और पृथ्वी आदि लोकों का (गोपाम्) रक्षक (ऋतस्य) सत्य का (दीदिवम्) प्रकाशक (वर्धमानम्) सबसे बड़ा (स्वे दमे) अपने उस परमानन्द पद में जिसमें कि सब दुःखों से छूटकर मोक्ष सुख को प्राप्त हुए पुरुष रमण करते हैं, उसमें सदा विराजमान हैं ऐसे प्रभु को हम प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ—परमात्मा प्रकाशस्वरूप, यज्ञादि उत्तम कर्मों के करने वाले, धर्मात्मा ज्ञानी पुरुषों की तथा पृथ्वी आदि लोक लोकान्तरों की रक्षा करने वाले हैं, और अपने दिव्य धाम जो सब दुःखों से रहित हैं उसी में वर्तमान हैं । ऐसे सर्वज्ञ सर्वान्तिर्यामी परमात्मा की ही बड़ी प्रेम से हम सबको भक्ति, प्रार्थना व उपासना करनी चाहिए ।

११

आचार्य से ब्रह्मचारियों का विद्यामधुपान

(ऋग्वेद, मण्डल १०, सूक्त १६७)

तुभ्यमिदमिन्द्र परिषिच्यते मधु
त्वं सुतस्य कलशस्य राजसि ।
त्वं रयिं पुरुवीरामु नस्कृधि
त्वं तपः परितप्याजयः स्वः ॥१॥

हे आचार्य प्रवर, आप इन्द्र हैं, आप देवों के देव हैं, गुरुओं के गुरु हैं। आपके लिए निरन्तर मधु झरता रहता है, सदा ही ज्ञानरस का झरना झर-झर करता हुआ आपके अन्तस्तल में प्रवाहित होता रहता है और आप उस मधुरस का पान कर परिपुष्ट होते रहते हैं। नित्य नये-नये ज्ञान से समृद्ध होते रहते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर ज्ञानरस संचित करते हुए आप मधुकलश के ज्ञान-घट के राजा हो गये हैं। और आपकी केवल इतनी ही विशेषता नहीं है कि आपने अपने स्वाध्याय से ज्ञानरस का संचय किया हुआ है, किन्तु साथ ही यह विशेषता भी आपके अन्दर है कि आपने तपस्या करके 'स्वः' अर्थात् आध्यात्मिक प्रकाश को भी प्राप्त कर लिया है। एवं ज्ञान, तपश्चर्या, अध्यात्म-ज्योति सबका सुन्दर समन्वय आपके अन्दर विद्यमान है। अपरा एवं परा दोनों विद्याओं में आप निष्णात हैं। ऐसे विलक्षण प्रतिभावान्, ज्ञानवान्, तपःपूत आत्मज्ञ, ब्रह्मवेत्ता आचार्य को पाकर हम ब्रह्मचारी भी अपने आपको धन्य मानते हैं और आपसे प्रार्थना करते हैं कि आपने अपने स्वाध्याय और तप से जिस ऐश्वर्य का उपार्जन किया है वह ऐश्वर्य हमें भी प्रदान कीजिए, जिस ज्ञानरस का आपने आस्वादन किया है उसका हमें भी आस्वादन कराइये, जिस आत्मज्योति का आपने साक्षात्कार किया है उसकी एक झांकी हमें भी कराइये।

---

१. (इन्द्र) हे आचार्यवर, (तुभ्यम्) आपके लिए (इदं मधु) यह ज्ञान का सोमरस (परिषिच्यते) झरता रहता है (त्वम्) आप (सुतस्य कलशस्य राजसि) झरे हुए उस मधुकलश के राजा हैं। (त्वं नः) आप हम ब्रह्मचारियों के लिए (पुरुवीरां रयिं) अत्यधिक ओजस्वी ज्ञानैश्वर्य का मधु (कृधि) प्रदान कीजिए। (त्वं) आपने (तपः परितप्य) तपस्या करके (स्वः अजयः) अध्यात्म-प्रकाश को अथवा परमानन्द को प्राप्त किया हुआ है।

स्वर्जितं महि मन्दानमन्धसो
हवामहे परि शक्रं सुतां उप।
इमं नो यज्ञमिह बोध्यागहि
स्पृधो जयन्तं मघवानमीमहे ॥२॥

हमारा आचार्य 'शक्र' है, बड़ा शक्तिशाली है। उसके शरीर में शक्ति है, उसके मन में शक्ति है, उसके आत्मा में शक्ति है, उसकी वाणी में शक्ति है। उसके दर्शन का प्रभाव चामत्कारिक है। उसके दर्शन होने पर हममें से प्रत्येक ब्रह्मचारी ऐसा अनुभव करता है कि मेरे अन्दर तेज की किरणें प्रवेश कर रही हैं, जो सब पाप-ताप के अन्धकार को विध्वस्त कर अन्तःकरण को निर्मल बना रही हैं। समस्त कुल में उसकी शक्ति की, उसके प्रभाव की, उसके प्रताप की धाक है। उसका आदर्श जीवन एक-एक ब्रह्मचारी को अनुप्राणित कर रहा है। वह 'स्वर्जित्' है, दिव्य प्रकाश का विजेता है। उसके मुखमण्डल पर आभा है, उसके विचारों में आभा है, उसकी क्रिया में आभा है। वह 'अन्धस्' से, ज्ञानरस के मधु से अत्यधिक तृप्त है, आनन्दित है। ऐसे अपने आदर्श आचार्य को हम ज्ञानप्राप्ति के निमित्त समीप बुलाते हैं।

हे गुरुवर, हमारे भक्तिभाव-भीने निमन्त्रण को स्वीकार कर आप इस ज्ञान-यज्ञ में आइये, हमें ज्ञान प्रदान कीजिए, हममें से प्रत्येक को व्यक्तिगत रूप से जानिए, प्रत्येक को जान कर उसकी त्रुटियों को दूर कीजिए, उसके गुणों का विकास कीजिए। प्रत्येक ब्रह्मचारी के मार्ग में अपने-अपने प्रकार की कठिनाइयां, विपत्तियां और विकट समस्याएं आती हैं। आप प्रत्येक के साथ सम्पर्क स्थापित कर उसे उन कठिनाइयों से पार होने का, उन समस्याओं को सुलझाने का मार्ग बताइये। आप बड़ी सरलता से ऐसा कर सकते हैं, क्योंकि आपने स्वयं जीवन में विघ्न बन कर आने वाली सब विपत्तियों को पार किया हुआ है, आन्तरिक एवं बाह्य स्पर्धालु शत्रुओं को जीता हुआ है, आप स्वयं सद्गुणों के ऐश्वर्य से परिपूर्ण हैं, 'मघवा' हैं, अतः हम ब्रह्मचारियों को भी वैसा बनाने में समर्थ हैं। हे आचार्यवर आइये, हम कुलपुत्रों के समीप आइये, हमसे सान्निध्य स्थापित कीजिए।

सोमस्यो राज्ञो वरुणस्य धर्मणि
बृहस्पतेरनुमत्या उ शर्मणि।

---

२. (स्वर्जितम्) अध्यात्म-प्रकाश के विजेता (अन्धसः महि मन्दानम्) मधुर ज्ञान-रस से अतिशय तृप्त (शक्रम्) शक्तिशाली आचार्य को (सुतान् उप) ज्ञान-रसों की प्राप्ति के निमित्त (हवामहे) हम बुलाते हैं। (इह) इस गुरुकुल में (इमं यज्ञम्) इस विद्याप्राप्ति रूप यज्ञ में (आगहि) आप आइये, (नः बोधि) हम ब्रह्मचारियों को जानिए। (स्पृधो जयन्तम्) स्पर्धालु शत्रुओं को जीत लेने वाले (मघवानम्) विद्याधन के स्वामी आचार्य को (ईमहे) हम चाहते हैं।

तवाहमद्य मघवन्नुपस्तुतौ
धातर्विधातः कलशाँ अभक्षयम् ॥ ३ ॥

आज मैं बहुत प्रसन्न हूं। अपने आचार्य के तथा उनके सहकर्मी अन्य गुरुओं के सान्निध्य में रह कर मैंने ज्ञानरस का आस्वादन कर लिया है। ज्ञानरस की केवल दो-चार बूंदें ही नहीं चखीं, किन्तु कलश के कलश पी डाले हैं। मेरे एक गुरु 'सोम' हैं। वे शान्ति के अग्रदूत हैं, चन्द्र के समान सौम्यता सदा उनके मुख पर विराजमान रहती है। उनकी उस मधुरिमा में जादू है, अद्‌भुत आकर्षण है। वे रस के आगार हैं। वे ओषधियों के राजा सोम के समान ब्रह्मचारियों के सब दर्दों की दवा जानते हैं। मेरे दूसरे गुरु 'वरुण' हैं, वेद के वरुण राजा के समान पाशी हैं, यम-नियमों के पाशों से ब्रह्मचारियों को बांधने वाले हैं। उनका नियन्त्रण ऐसा दृढ़ है कि कुल का कोई भी सदस्य उनके पाशों से छूटा नहीं रहता। सब कुलवासियों को उनकी नियत की हुई मर्यादा में रहना पड़ता है। मेरे तीसरे गुरु 'बृहस्पति' हैं, ज्ञान में तथा ज्ञान के प्रदान में साक्षात् सुराचार्य है तथा उन्होंने अपनी वाणी पर भी आधिपत्य प्राप्त किया हुआ है (बृहती वाक् तस्याः पतिः बृहस्पतिः)। उनकी वक्तृत्वकला तथा उनकी अध्यापन-शैली ऐसी अनोखी है कि जटिल से जटिल विषय भी ब्रह्मचारियों को हस्तामलकवत् प्रतीत होने लगता है। मैं अपने गुरुकुल-निवास-काल में अपने सोम, वरुण और बृहस्पति गुरुओं की तथा अनुमति देवी अर्थात् वरदात्री वेदमाता की शरण में रहा हूँ। हे सब कुलपुत्रों को अपने गर्भ में धारण करने वाले आचार्यवर, उक्त गुरुओं की तथा आपकी सेवा में रह कर मैंने ज्ञानमधु के अनेकों कलश पी लिये हैं और मैं तृप्त हो गया हूं।

प्रसूतो भक्षमकरं चरावपि
स्तोमं चेमं प्रथमः सूरिरुन्मृजे।
सुते सातेन यद्यागमं वां
प्रति विश्वामित्रजमदग्नी दमे ॥४॥

---

३. (सोमस्य) सोम गुरु के (राज्ञः वरुणस्य) वरुण राजा के तुल्य गुरु के (धमणि) धर्म में तथा (बृहस्पतेः) बृहस्पति गुरु की (उ अनुमत्या) और देवमाता की (शर्मणि) शरण में रहते हुए, तथा (मघवन्) हे विद्याधन के स्वामी, (धातः) ब्रह्मचारियों को गर्भ में धारण करने वाले, (विधातः) नवीन जन्म देने वाले हे आचार्यवर, (तव उपस्तुतौ) आपकी उपासना करते हुए मैंने (कलशान् अभक्षयम्) ज्ञानरस के अनेकों कलश पी लिये हैं।

४. (विश्वामित्र जमदग्नी) हे सब छात्रों के मित्र आचार्यवर, और हे अग्नि की, कर्मकाण्ड की, क्रियात्मक ज्ञान की शिक्षा देने वाले उपाचार्यवर, (प्रसूतः) आपसे प्रेरित होकर मैंने (चरौ अपि) सदाचरण के सम्बन्ध में भी (भक्षम् अकरम्) आस्वादन किया है, शिक्षा ग्रहण की है। (सुते) विद्याध्ययन रूपी यज्ञ के पूर्ण हो जाने पर (यदि) जब (वां प्रति) आप दोनों के प्रति (दमे) आपके घर में, गुरुकुल में (सातेन) गुरुदक्षिणा के साथ (आगमम्) आया हूं, तब (प्रथमः सूरिः) प्रथम कोटि का विद्वान् बना हुआ मैं (इमं स्तोमम् उन्मृजे) यह आपका गुणगान कर रहा हूँ।

हे मेरे प्यारे आचार्य, मैंने गुरुकुल में रहते हुए आपके स्वरूप की जो झांकी पाई है, उसका मैं क्या वर्णन करूं। अभी मैं स्वर्जित्, शक्र, मघवा, धाता और विधाता नामों से आपकी महिमा का गान कर चुका हूं। इसके अतिरिक्त आपका एक और स्वरूप भी इस समय मुझे स्मरण आ रहा है। वर्षों तक आपकी छत्रछाया में रहते हुए मैं यह अनुभव करता रहा हूं कि आप 'विश्वामित्र' हैं, सब समय सबके मित्र हैं। कभी किसी छात्र के प्रति आपके मन में द्वेष की भावना मैंने नहीं देखी। सब पर सदा स्नेह की दृष्टि आप करते रहे हैं। आपके वरद हस्त के नीचे रह कर मैंने बहुत-कुछ ज्ञानार्जन किया है। और इन दूसरे आपके सहयोगी अपने उपाचार्य 'जमदग्नि' को भी मैं इस समय नहीं भुला सकता, जिनसे मैंने कर्मकाण्ड की शिक्षा ग्रहण की है (जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा—निरुक्त)। हे सबके मित्र आचार्यवर और हे कर्मकाण्ड के शिक्षक उपाचार्यवर, आपसे प्रेरित होकर मैंने केवल पुस्तकीय ज्ञान ही प्राप्त नहीं किया, किन्तु सदाचार की भी शिक्षा ग्रहण की है, जीवन में मनुष्य को किसके प्रति कैसा शिष्टाचार बर्तना चाहिए यह भी मैंने आपसे सीखा है। अब मैं स्नातक बन कर इस कुल से विदा होते समय आपसे आशीर्वाद लेने के लिए गुरुदक्षिणा के ये पत्र-पुष्प लेकर आपकी सेवा में उपस्थित हूँ। इस समय मेरे हृदय में आपके प्रति भक्ति उमड़ रही है, मेरा सिर आपके चरणों में नत हो रहा है, मन से आपके प्रति कृतज्ञता के भाव और स्तुतिगीत निकल रहे हैं। आपने मुझे जो अमृतपान कराया है उससे मैं कभी आपसे उऋण नहीं हो सकता। बस, मैं तो शुद्ध हृदय से बार-बार आपके उपकारों को स्मरण करता हुआ आपकी वन्दना करने में ही अपने आपको धन्य मानता हूं। आपकी महिमा अवर्णनीय है।

सब धरती कागद करूं, लेखनि सब बनराय।
सात समुंद की मसि करूं, गुरुगुन लिखा न जाय।।

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये।। ऋ. १।१।९।।

पदार्थ—(अग्ने) ज्ञानस्वरूप, ज्ञानप्रद पिता (सः) लोक और वेदों में प्रसिद्ध आप (सूनवे पिता इव) पुत्र के लिए पिता जैसा हितकारक होता है वैसा ही (नः) हमारे लिए (सु-उपायनः) सुखदायक पदार्थों की प्राप्ति कराने वाले ज्ञान के दाता (भव) होओ और (नः) हम लोगों के (स्वस्तये) कल्याण के लिए (सचस्व) प्राप्त होओ।

भावार्थ—जैसे पुत्र के लिए पिता हितकारी होता है और सदा यही चाहता है कि, मेरा पुत्र धर्मात्मा चिरंजीवी, धनी, प्रतापी, यशस्वी, सुखी और बड़ा ज्ञानी हो, वैसे ही आप परमपिता परमात्मा चाहते हैं कि हम भी जो आपके पुत्र हैं धर्मात्मा, चिरंजीवी, धनी, प्रतापी और महाविद्वान् होकर लोक में सदा सुखी होवें।

सारांश—ऋग्वेद के इस प्रथम अग्निसूक्त में परमेश्वर के गुणों का वर्णन किया गया है, और परमेश्वर ने मनुष्यों को उपदेश दिया है कि, उनको अपने कल्याणार्थ किस प्रकार उनकी स्तुति प्रार्थना और उपासना करनी चाहिये। जो व्यक्ति या व्यक्तिसमूह परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करेगा उसका अवश्यमेव कल्याण होगा, ऐसा स्पष्ट सिद्ध है।

नागरिक और वनवासिनी की वार्ता

(ऋग्वेद १०.१४६ का एक प्रसंग)

सघन कानन में एक विशाल तरु के नीचे कोई वानप्रस्थ रमणी बैठी हुई है—निर्द्वन्द्व, निर्भय, निश्छल, सांसारिक वासनाओं से सर्वथा शून्य, साधना में लीन। वृक्ष पर बैठे पक्षी कलरव कर रहे हैं, पास ही मयूर नृत्य कर रहे हैं, दायें-बायें कुछ मृगशावक विचर रहे हैं; मानो सब उसका परिवार है। निकट ही झरना बह रहा है। कहीं-कहीं सिंह, हाथी आदि वन्य पशुओं के पदचिह्नों की पंक्तियां स्थान की भयानकता को भी सूचित कर रही हैं। इतने में ही कोई राहभूला भयभीत नागरिक उधर आ निकलता है। उस रमणी को अकेली देख उसके आश्चर्य की सीमा नहीं रहती। वह सोचने लगता है, कहां तो यह निविड वन, और कहां मन तथा शरीर से कोमल यह मुग्धा नारी। उसके मन में श्रद्धा का उदय होता है। उसे वह माता के रूप में देखता है। समीप पहुँच प्रश्न करता है—

'अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रे व नश्यसि।
कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दति ॥१॥

हे माता, क्यों तुम इन घोर जंगलों के बीच वास करती हो? क्यों तुम ग्राम और नगर को नहीं पूछतीं? क्या यहां तुम्हें भय नहीं लगता? आओ, मैं तुम्हें नगर में चलने का निमन्त्रण देता हूं, जहां एक-से-एक सुन्दर भवन हैं, प्रासाद हैं, राजमार्ग हैं, रथ हैं, विपणियां हैं, नाटक हैं, चलचित्र हैं, गोष्ठी है, कविता है, संगीत है, नृत्य है और ऐसी उन्नत शिल्पकला है जिसके आगे विधाता भी हार मानता है।'

रमणी नागरिक की बात सुनती है और मुस्करा देती है। कहती है, 'हे भद्र, तुम नगर की शोभा पर गर्व करते हो। पर मैं तो अपनी प्यारी वनशोभा पर ही मुग्ध हूं। आओ, नगर की राजसी झिलमिलाहट से चकाचौंध हुई तुम्हारी आंखों को मैं वन की सात्त्विक शोभा का दर्शन कराऊं। देखो,

---

मन्त्रार्थ—१. (अरण्यानि) हे वानप्रस्थ माता, (असौ या) वह जो तू (अरण्यानि) वनों में (प्रनश्यसि इव) लुप्त हुई-सी रहती है, (ग्रामं कथा न प्रच्छसि) ग्राम को क्यों नहीं पूछती? (त्वा) तुम्हें (भीः इव) भय-सा (न विन्दति) क्या नहीं लगता?

'वृषारवाय वदते यदुपावति चिच्चिकः ।
आघाटिभिरव धावयन्नरण्यानिर्महीयते ।।२।।

वन में तो बिना तानपूरे के ही संगीत का आनन्द आता है। बरसात की रात्रि में चिक-चिक ध्वनि करने वाला झींगुर जब मोटी आवाज वाले टिड्डे के पास आ बैठता है और दोनों अपना राग अलापने लगते हैं, तब ऐसा लगता है, मानो वीणा से सप्तस्वरों का शोधन हो रहा हो।'

'उत गाव इवादन्त्युत वेश्मेव दृश्यते ।
उतो अरण्यानिः सायं शकटीरिव सर्जति ।।३।।

यह देखो, सामने गौओं जैसे पशु चर रहे हैं। ये लताकुंज प्रासाद से दृष्टि-गोचर हो रहे हैं। और सायंकाल होने पर वन तथा नगर की सीमा पर खड़े होकर देखो, अपूर्व दृश्य देखने को मिलता है। फल, काष्ठ आदि से भरी नगर की ओर जाती हुई गाड़ियों की पंक्ति को देख ऐसा प्रतीत होता है मानो वनवीथी अपने अन्दर से उन गाड़ियों की सृष्टि कर रही हो।

'गामङ्गैष आ ह्वयति दार्वङ्गैषो अपावधीत् ।
वसन्नरण्यान्यां सायमक्रुक्षदिति मन्यते ।।४।।

इधर देखो, चरवाहा गौएं चरा रहा है। इसने अपनी गौओं के नाम रख लिये हैं। एक का नाम कृष्णा है, दूसरी का नाम गौरी है, तीसरी का नाम इडा है, चौथी का नाम अदिति है। नाम ले-लेकर यह अपनी धेनुओं को पुकार रहा है। जिसका नाम पुकारता है वही उसकी ओर मुंह उठाती है और दौड़ पड़ती है। मूक पशुओं से चरवाहे की यह बातचीत कैसी कौतूहलवर्धक है। दूसरी ओर यह लकड़हारा वृक्ष पर चढ़ा हुआ लकड़ियां काट रहा है। अन्य भी अनेक नगरवासी वनवीथी की शरण में आते हैं। पर अचानक वन में उन्हें कभी रात्रि हो जाये तो उनकी कल्पना अपने आगे हिंस्र जन्तुओं को साकार खड़ा देखने लगती है और भय के मारे उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यह सिंह बोला, यह व्याघ्र बोला।' किन्तु असली बात तो यह है कि—

---

२. (वदते वृषारवाय) मोटी आवाज वाले टिड्डे के बोलते होने पर (यत् चिच्चिकः उपावति) जब चीं-चीं ध्वनि करने वाला झींगुर पास आ बैठता है, तब (अरण्यानिः) जंगल (आघाटिभः इव धावयन् महीयते) ऐसा महिमान्वित होता है, मानो कोई वीणा द्वारा सप्त स्वरों को शोधित कर रहा हो।

३. (उत) और (गावः इव) गौओं जैसी आकृति के पशु (अदन्ति) घास चर रहे हैं (उत) और (वेश्म इव दृश्यते) लताकुंज घर के सदृश दिखाई दे रहे हैं। (उतो) और (अरण्यानिः) जंगल (सायम्) सायंकाल (शकटीः इव सर्जति) गाड़ियों की सृष्टि-सी कर रहा होता है।

४. (अंग) हे भाई, (एष गाम् आ ह्वयति) यह गाय को बुला रहा है, (अंग) और हे भाई, (एषः दारु अपावधीत्) यह लकड़ियां काट रहा है। किन्तु, (सायम्) सायंकाल (अरण्यान्या वसन्) जंगल में निवास करता हुआ मनुष्य (अक्रुक्षत् इति मन्यते) यह हिंस्र जन्तु बोला ऐसा मानने लगता है।

'न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति ।
स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं निपद्यते ॥५॥

यह वनवीथी अपनी ओर से किसी का संहार नहीं करती; पहले मनुष्य ही अपने अन्दर हिंसा की यह भावना रखता है। मनुष्य पूर्ण अहिंसक हो जाये तो अटवी उसकी माता हो जाती है; सिंह-व्याघ्र सब उसकी अहिंसा के आगे झुक जाते हैं। वन तो एक वाटिका है जहाँ स्वादिष्ट फलों को खाकर मनुष्य इच्छानुसार विश्राम करता है।'

'आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम् ।
प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम् ॥६॥

जहां अंजन पुष्पों की भीनी गन्ध उठती है, जहां अन्य विविध सौरभ हैं, जहाँ बिना कृषक के प्रचुर अन्न उपजता है, जो मृगों की माता है उस वनवीथी को मैं बार-बार प्रणाम करती हूँ।'

राहगीर के मुख से अनायास निकल पड़ता है, 'वनवीथी की जय हो, वन-माता की जय हो।'

---

५. परन्तु (अरण्यानिः) जंगल तो (न वै हन्ति) सचमुच किसी को मारता नहीं (अन्यः चेत्) यदि अन्य ही व्याघ्र आदि कोई हिंसक पशु (न अभिगच्छति) आक्रमण न कर बैठे। जंगल में तो (स्वादोः फलस्य) स्वादु फल को (जग्ध्वाय) खाकर मनुष्य (यथाकामं) इच्छानुसार (निपद्यते) विश्राम करता है।

६. (आञ्जनगन्धिं) अंजन वृक्ष के फूलों की गन्ध वाले, (सुरभिं) सुरभित, (अकृषीवलां बह्वन्नां) बिना किसान के ही प्रचुर अन्नों वाली (मृगाणां मातरम्) मृगों की माता (अरण्यानि) वनवीथी की (अहम्) मैं (प्र अशंसिषम्) प्रशंसा करती हूं।

वायवायाहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः
तेषां पाहि श्रुधी हवम् ॥ ऋ. १।२।१॥

पदार्थ—(वायो) हे अनन्त बल-युक्त सबके प्राणरूप अन्तर्यामी जगदीश्वर ! (आयाहि) आप हमारे हृदय में प्रकाशित होवें (दर्शत) हे ज्ञान से देखने योग्य ! (इमे सोमाः) संसार के ये सब पदार्थ जो आपने (अरंकृताः) सुशोभित किये हैं (तेषाम् पाहि) इनकी रक्षा करें (हवम्) हमारी स्तुति को (श्रुधी) सुनिये।

भावार्थ—हे अनन्त बल-युक्त सबके जीवनदाता दर्शनीय परमात्मन् ! आप अपनी कृपा से हमारे हृदय में प्रकाशित होवें और जो उत्तम-उत्तम पदार्थ आपने रचे और हमको दिये हैं, उनकी रक्षा भी आप करें। हमारी इस नम्रतायुक्त प्रार्थना को कृपा करके सुनें और स्वीकार करें।

आदर्श गणतन्त्र

वैदिक संहिताओं में जहां अध्यात्म, नैतिकता, समाजशास्त्र आदि सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य विषयों का वर्णन है, वहां राज्यव्यवस्था के सम्बन्ध में भी अनेक विस्तृत निर्देश प्राप्त होते हैं। यजुर्वेद में चार प्रकार के राजाओं का उल्लेख है—स्वराट्, जनराट्, सत्रराट्, और सर्वराट्। प्रजा द्वारा राजा के चुनाव तथा राजसूय यज्ञ का भी वेदों में वर्णन मिलता है। राजसूय यज्ञ में प्रजा द्वारा चुने गए राजा का राज्याभिषेक किया जाता है। प्रजा का प्रतिनिधि या पुरोहित चुने हुए राजा को सम्बोधन कर कहता है—"मैं तुझे प्रजा में से ही लाया हुं, हमारे बीच राजा बन कर रह। स्थिर और अविचल होकर शासन कर। सब प्रजायें तुझे चाहती रहें, ऐसा न हो कि तुझसे यह राष्ट्र छीना जाए (ऋग् १०.१७३.१)।" यजुर्वेद में वर्णित राजसूय यज्ञ में राजा का अभिषेक करते हुए कहा है—"मैं तुझे चन्द्रमा की कान्ति से, अग्नि की दीप्ति से, सूर्य के वर्चस् से, इन्द्र के इन्द्रत्व से अभिषिक्त करता हूँ। तू क्षात्रबलों का अधिपति हो तथा शत्रु के शस्त्रों से हमारी रक्षा कर (यजु. १०.१७)।" राजा उत्तर देता है कि—"मैं अपने शासनकाल में सविता, सरस्वती, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, अग्नि, सोम, विष्णु इन दस देवताओं से प्रेरणा पाता हुआ राज्य-कार्य का संचालन करूंगा।"

सवित्रा प्रसवित्रा सरस्वत्या वाचा त्वष्ट्रा रूपैः पूष्णा पशुभिरिन्द्रेणास्मे। बृहस्पतिना ब्रह्मणा वरुणेनौजसाऽग्निना तेजसा सोमेन राज्ञा विष्णुना दशम्या देवतया प्रसूतः प्रसर्पामि ॥ यजु. १०-३०

'सविता' उत्पत्ति का प्रतीक है, सविता से प्रेरणा लेकर राजा राष्ट्र में सब प्रकार के आवश्यक उत्पादनों की ओर ध्यान दे। 'सरस्वती' वाणी का प्रतीक है, राष्ट्र की वाणी को राजा न रोके। 'त्वष्टा' रूप का प्रतीक है, राजा राष्ट्र में रूप-रंग भर दे। 'पूषा' पशुओं का रक्षक है, राजा राष्ट्र में कृषि और पशुपालन की ओर ध्यान दे। 'इन्द्र' वीरता और ऐश्वर्य का प्रतीक है, राजा राष्ट्र को वीर तथा ऐश्वर्य-शाली बनाए। 'बृहस्पति' ज्ञान का प्रतीक है, राजा राष्ट्र में ज्ञान-विज्ञान की उन्नति करे। 'वरुण' दण्डशक्ति का प्रतीक है, राजा अपराधियों को यथायोग्य दण्ड दे। 'अग्नि' तेज का प्रतीक है, राजा राष्ट्र को तेजस्वी बनाए। 'सोम' सौम्यता, आल्हाद तथा भेषज का प्रतीक है, राजा राष्ट्र में सौम्यता और आल्हाद लाए तथा स्वास्थ्य विभाग को सतर्क रखे। 'विष्णु' व्यापकता का प्रतीक है, जैसे विष्णु त्रिलोकी में अपने चरण-विन्यास किए हुए है, ऐसे ही राजा अपने प्रभाव से राष्ट्र में सर्वत्र व्यापक

रहे। ये प्रेरणाएं राजा को उक्त दसों देवों से लेते हुए कार्य करना है, ऐसा वेद का आशय है।

गणतन्त्र के अधिपति का ऋग्वेद में निम्नलिखित शब्दों में आह्वान किया गया है।

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे
कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पते
आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्॥ ऋ. २.२३.१

"तुझ गणतन्त्र के अधिपति का हम आह्वान करते हैं। तू मेधावियों में अतिशय मेधावी है, तेरा यश अनुकरणीय है। तू ज्येष्ठ राजा है, तू ब्रह्मणस्पति है। तू हमारे आह्वान को सुनकर अपनी रक्षाओं के साथ राष्ट्र-सदन में आकर बैठ।"

राज्यपरिषदें

वैदिक राजा या प्रधानमन्त्री स्वतन्त्र नहीं, किन्तु सभा और समिति के अधीन है। राजा उनके विषय में स्वयं कहता है—

सभा च मा समितिश्चावतां
प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने
येना संगच्छा उप मा स शिक्षात्
चारु वदानि पितरः संगतेषु॥ अथर्व. ७.१२.१

"सभा और समिति दोनों मिलकर मेरी रक्षा करें, जो मुझ प्रजापति की पुत्रियाँ हैं। सभा और समिति के जिस सदस्य से भी मैं मिलूं, वह मुझे उचित परामर्श दे। हे सदस्यो, जब तुम इन राज्य-परिषदों में मिलकर बैठो, तब मैं राष्ट्र के प्रति चारु भाशण करूं।"

आधुनिक परिभाषा में ये राज्यपरिषदें लोक सभा और राज्य-सभा कहला सकती हैं। स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रंथ सत्यार्थप्रकाश तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ऋग्वेद के एक मन्त्र के अनुसार राज्य में तीन राज्यपरिषदों का बनाया जाना लिखा है—

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि
परि विश्वानि भूषथः सदांसि।
अपश्यमत्र मनसा जगन्वान्
व्रते गन्धर्वां अपि वायुकशान्॥

ऋग्० ३.३८.६

"राजा और प्रजा के पुरुष मिलकर राष्ट्रयज्ञ के संचालनार्थ विद्यार्य सभा, धर्मार्य सभा और राजार्य सभा नामक राज्यपरिषदों का निर्माण करें। उसमें ऐसे सदस्य रहें जो राष्ट्र को धारण करने में समर्थ (गन्धर्व) तथा वायु के समान सर्व-विषयसंचारी और सूर्य रश्मियों के तुल्य सर्वविषयप्रकाशक हों।"

अथर्ववेद में राजा को भी सभा का सदस्य बताया है और कहा है कि वह तथा अन्य सभासद् मिलकर प्रजा की पालना करें—

सभ्य सभां मे पाहि
ये च सभ्याः सभासदः । अथर्व. १९.५५.६

सेना और युद्ध

सभा और समिति के साथ राष्ट्ररक्षा के लिए सेना की भी आवश्यकता वेद में कही गई है—"तं सभा च समितिश्च सेना च (अथर्व. १५.९.२)" । हमारा राष्ट्र कभी शत्रु से पराजित न हो इस विषय की प्रार्थनायें और उद्बोधनगीत वेदों में बहुत प्रचुरता के साथ विद्यमान हैं ।

इन्द्रो जयाति न परा जयाता
अधिराजो राजसु राजयातै ।
चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो
नमस्यो भवेह ॥ अथर्व. ६.९८.१

"हमारे राष्ट्र का अधिनायक सदा विजयी रहे, कभी पराजित न हो । राजाओं में अधिराज होकर शोभा पाये । वह कर्मकुशल, प्रशंसनीय, वन्दनीय तथा प्रजा की पहुँच में रहने वाला हो ।"

इमं देवा असपत्नं सुनध्वं महते क्षत्राय ।
महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्याय ॥ यजु. ९.४०

हे देवजनो, हमारे इस नायक को शत्रुरहित करो, महान् क्षेत्र के लिए, महान् ज्येष्ठत्व के लिए, महान् जनता के राज्य के लिए ।"

प्रयास ऐसा होना चाहिए कि युद्ध कभी उपस्थित ही न हो तथा सभी राष्ट्रों में पारस्परिक सद्भावना रहे । युद्धों में पुरुषों का और जगत् का संहार होता है । इसे रोकना चाहता हुआ वेद कहता है—मां हिंसीः पुरुषं जगत्' (यजु. १६.२१) ।

किन्तु यदि विवशता में युद्ध करना ही पड़े तो फिर युद्ध के रोमांचक चित्र भी वेद प्रस्तुत करता है । सैनिकों को उद्बोधन देता हुआ वेद कहता है—

"स्थिर हों तुम्हारे शस्त्रास्त्र शत्रु का प्रतिरोध करने के लिए और रणांगण में उसे पीछे हटा देने के लिए । तुम्हारी सेना प्रशंसा के योग्य हो, मायावी शत्रु की सेना तुम्हारी सेना की तुलना में शोभाहीन प्रतीत हो । हे हिंसकों की हिंसा करने वालो, न आकाश में शत्रु तुम्हें पा सके, न ही भूमि पर । तुम्हारी सेना परस्पर सहयोग से अति विस्तीर्ण हो, जिससे तुम शत्रु से लोहा ले सको ।

(ऋग्० १.३९.२.४)

वेद की प्रेरणा है कि हम सर्वात्मना यत्नशील रहें कि हमारा स्वराज्य किसी से छीना न जाए, हम प्रहरी बन कर खड़े रहें—व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये (ऋ. ५.३६.३) । यदि कोई हमारे स्वराज्य का अपहरण करना चाहता है तो हम उससे जूझ पड़ें ।

"आगे बढ़, आक्रमण कर, शत्रुओं को परास्त कर। देख, तेरा वज्र झुके नहीं। हे वीर, तेरा बल शत्रु को नत कर देने वाला है। अत्याचारी का वध कर दे, शत्रु से अवरुद्ध किये गये धन, जन, सत्य, न्याय आदि के प्रवाहों को पुन: प्रवाहित कर दे। तू स्वराज्य का पुजारी है। न गर्जन से न तर्जन से शत्रु तुझे भयभीत कर सके। वैरी के प्रति सहस्रों को भून डालने वाला तेरा लौह वज्र तैयार रहे। तू स्वराज्य का पुजारी है (ऋ. १.८०.३,१२)।"

ब्रह्म-क्षत्र का समन्वय

राष्ट्र का जहां आत्मरक्षा के लिए क्षात्रबल में समृद्ध होना आवश्यक है, वहां आत्मोन्नति के लिए ब्रह्मबल की भी आवश्यकता है। ब्रह्मबल के बिना क्षत्रबल पंगु है। क्षात्रबल को ब्रह्मबल विहीन देखकर ही ऋषि विश्वामित्र ने कहा था कि क्षात्रबल को धिक्कार है, ब्रह्मबल ही वास्तविक बल है—"धिग् बलं क्षत्रियबलंब्रह्मतेजो बलं बलम्।" यजुर्वेद में कहा है कि जिस राष्ट्र में ये दोनों बल परस्पर समन्वय के साथ विद्यमान रहते हैं वह राष्ट्र पुण्यशाली है—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरत: सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवा: सहाग्निना॥

यजु. २०.२५

ब्रह्मबल राष्ट्र में शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान की उन्नति, अध्यात्म के विकास तथा सार्वभौम धर्म, सत्य, न्याय आदि के प्रसार का प्रतीक है। राष्ट्रोन्नति के लिए इनका विकास आवश्यक है। इसलिए प्राचीन काल में ब्रह्मर्षि राजाओं के परामर्शदाता हुआ करते थे तथा वे राष्ट्र को नैतिक दृष्टि से समृद्ध करने में सहायक होते थे।

भूमि-सूक्त

अथर्ववेद का भूमि-सूक्त राष्ट्रभक्ति, राष्ट्रसमृद्धि और राष्ट्र-गौरव का गान करने वाला अमर गीत है—उसमें कहा है कि किसी भी राष्ट्र के वृत रहने के लिए सत्यज्ञान, सत्याचरण, दीक्षा, तप ब्रह्म और यज्ञ ये आवश्यक तत्त्व हैं (मन्त्र १)। राजा और प्रजा यदि सदा जागरूक रह कर राष्ट्रभूमि की रक्षा करते हैं, तो राष्ट्रभूमि रूपी गौ, मधु, प्रिय और वर्चस् का दोहन करने लगती है (मन्त्र ७)। राष्ट्रभूमि मेरी माता है, मैं उसका पुत्र हूं—माता भूमि: पुत्रो अहं पृथिव्या: (मन्त्र १२)। जो कोई हमसे द्वेष करता है, हमें मानसिक दासता में डालता है या शस्त्र द्वारा हमारा वध करता है, उसको हमारी राष्ट्रभूमि विध्वंस करने का सामर्थ्य रखती है (मन्त्र १४)। भूमि में क्या है ? शिला, पत्थर, धूल का ढेर ही तो है। किन्तु जब उसे कुशल नेतृत्व प्राप्त हो जाता है, निपुण कारीगर मिल जाता है, तब वही भूमि सोना उगलने लगती है, सज-संवर कर सुव्यवस्थित राष्ट्र के रूप में दिखाई देने लगती है, और प्रत्येक राष्ट्रवासी का सिर उसके आगे झुक जाता है—पृथिव्या अकरं नम: (मन्त्र २६)। अपने गर्भ में निधियों को धारण करती हुई राष्ट्रभूमि हमें धन, मणि, हिरण्य प्रदान करे। वह वसुदात्री भूमि माता प्रसन्न होती हुई हमें अपनी गोद में बैठाये (मन्त्र ४४)। हम अपनी राष्ट्रभूमि को नियमानुसार कर प्रदान करते रहें और आवश्यकता होने पर आत्म-बलिदान के लिए भी तैयार रहें—'वयं तुभ्यं बलिहृत: स्याम' (मन्त्र ६२)।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।

सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां
ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ।। अथर्व. १२.१.४५

विविध वाणियों को बोलने वाले, अलग-अलग धर्मों को मानने वाले सब जनों को हमारी राष्ट्रभूमि वैसे ही अपनी गोद में धारण करती है, जैसे एक घर में विभिन्न प्रकृति के पारिवारिक जन रहते हैं। वह भूमि पैर न चलाती हुई स्थिर गौ जैसे सहस्रों दूध की धारें प्रदान करती है वैसे ही हमें सहस्रों ऐश्वर्य की धारें प्रदान करे। (मन्त्र ४५)।

ये ग्रामा यदरण्यं या सभा अधि भूम्याम् ।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ।।

जो ग्राम हैं, जंगल हैं, सभायें हैं, संग्राम हैं, समितियां हैं, सब में हे राष्ट्रभूमि, तेरे प्रति हम चारु भाषण करते रहें (मन्त्र ५६)।

शान्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोध्नी पयस्वती ।
भूमिरधिब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह ।।

"शान्तिमयी, सौरभमयी, सुखमयी, अमृत भरे ऊधस् वाली, विशाल राष्ट्र-भूमि रूपिणी कामधेनु हमें सदा सत्य, न्याय स्वास्थ्य, समृद्धि आदि का दूध देती रहे (मन्त्र ५९)।

इस प्रकार वैदिक गणतन्त्र के आदर्श में मधुवर्षा है, सुख समृद्धि है, पारस्परिक सौहार्द है, जनता का राज्य है, 'वन्दे मातरम्' की भावना है, अभय है, नैतिकता है, ईश्वर–विश्वास है, मानवता है, साक्षरता है, स्वास्थ्य है। नहीं है तो दरिद्रता, भुखमरी, आधि-व्याधि, पाशविकता और अन्याय का ताण्डव नृत्य।

और अन्त में यह राष्ट्रीय प्रार्थना—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी
महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वान्
आशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठा
सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम् ।
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्
योगक्षेमो नः कल्पताम् ।। यजु. २२.२२

हे ब्रह्मन्, हमारे राष्ट्र में ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण उत्पन्न हों। शूर, शस्त्रास्त्र चलाने में निपुण शत्रु वेद्धा, महारथी क्षत्रिय उत्पन्न हों। दुधारु गौएं हों, शीघ्रगामी घोड़े हों। गृहकार्यकुशल, बुद्धिमती नारियां हों। विजयशील, रथारोही, सभ्य युवा पुत्र हो। इच्छानुसार बादल बरसे, औषधियां फल-फूलों से लदी रहें। हम सभी का योग क्षेम होता रहे।"

विश्वबन्धुत्व की भावना

वेदों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वेद सार्वजनिक हित, विश्व-बन्धुत्व, माधुर्य, प्रेम और शान्ति की भावना से ओतप्रोत हैं। वेदों में संज्ञान, साम्मनस्य, एकता, संगठन, परोपकार आदि की प्रेरणाएं स्थान-स्थान पर उपलब्ध होती हैं।

एक माता के पुत्र

वेद की दृष्टि में सम्पूर्ण भूमि हम सबकी माता है तथा हम सब उसके पुत्र हैं—'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः', अथर्व. १२.१.१२। संसार का प्रत्येक व्यक्ति यदि वेद की यह दृष्टि सम्मुख रखे कि हम सबकी माता एक है, तो परस्पर सगे भाइयों के समान रहने की बड़ी प्रेरणा मिल सकती है। वेद की शिक्षा है कि हमें छोटे-बड़े का भेद-भाव त्याग कर भ्रातृत्व की भावना के साथ आगे बढ़ना है—अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय, ऋग् ५.६०.५। अथर्ववेद के भूमि-सूक्त में कहा गया है कि यह भूमि विभिन्न भाषाओं के बोलने वाले और विभिन्न धर्मों वाले जनों को भी अपने अन्दर ऐसे ही रखती है जैसे एक परिवार के लोग घर में रहते हैं। इससे हमें यह सन्देश प्राप्त होता है कि भाषा, धर्म, वेश-भूषा आदि का भेद होने पर भी हमें परस्पर प्रेम से रहना है।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं,
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां
ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥ अथर्व. १२.१.४५

साम्मनस्य

वेदों में कई साम्मनस्य विषयक सूक्त मिलते हैं, जिनसे यह प्रेरणा प्राप्त होती है कि एक परिवार में, एक समाज में, एक राष्ट्र में तथा एक विश्व में हम सब परस्पर प्रीतियुक्त मन से रहें। इस सम्बन्ध के कतिपय मन्त्र निम्नलिखित हैं—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ ऋ. १०.१९१.२,४

"हे मनुष्यो, तुम सब मिल कर चलो, मिल कर वार्त्तालाप करो, तुम्हारे मन मिल जायें। तुम वैसे ही मिल कर कार्यों को सिद्ध करो, जैसे विभिन्न क्षेत्रों के देव परस्पर सहयोग से कार्य करते हैं। तुम्हारा संकल्प समान हो, तुम्हारे हृदय समान हों, तुम्हारा मन समान हो, जिससे तुममें परस्पर साथ रहने की शुभ प्रवृत्ति उत्पन्न हो।

यहाँ देवों का दृष्टान्त बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। सभी क्षेत्रों के देव परस्पर साम्मनस्य से ही कार्य करते हैं। प्रकृति में सूर्य, चन्द्र, वायु, पर्जन्य, पृथिवी आदि देव यदि परस्पर सहयोग छोड़ दें, तो समस्त प्राकृतिक कार्य अस्त-व्यस्त हो जायें। शरीर के जीवात्मा, मन, बुद्धि, चक्षु, श्रोत्र आदि देवों में भी यदि असाम्मनस्य होने लगे तो न मनुष्य कुछ ज्ञान प्राप्त कर सके, न ही कोई कार्य कर सके। ऐसे ही किसी राष्ट्र के राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, शिक्षामन्त्री आदि देव भी एक सूत्र में बद्ध होकर कार्य न करें तो राष्ट्र की उन्नति के सब कार्य रुक जायें। एवं देवों के सहयोगयुक्त व्यवहार से शिक्षा लेकर विश्व के सभी मनुष्यों को पारस्परिक सहयोग और बन्धुत्व की भावना से रहना है, यह वेद का आशय है। पुनः भगवती श्रुति कहती है—

सहृदयं साम्मनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ अथर्व. ३.३०.१,३

"हे मनुष्यो, तुम्हें मैं सौहार्द, साम्मनस्य तथा अविद्वेष का उपदेश करता हूं। तुम एक-दूसरे से वैसे ही प्रेम करो, जैसे नवजात वत्स से गौ प्रेम करती है। कोई भाई दूसरे भाई से द्वेष न करे, कोई बहिन दूसरी बहिन से द्वेष न करे। तम मिल कर चलते हुए सहकर्मी होते हुए एक-दूसरे के प्रति भद्र वाणी बोला करो।"

वेद का यह उपदेश एक छोटे परिवार तथा बड़े विश्व-परिवार दोनों के प्रति समान रूप से प्रवृत्त हो रहा है। वेद का स्पष्ट रूप में यह भी कथन है कि हमें केवल अपनों से ही प्रेम-व्यवहार नहीं करना है, अपितु अपरिचितों के प्रति भी स्नेह भावना रखनी है।

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः।
संज्ञानमश्विना युवमस्मासु नियच्छतम् ॥ अथर्व. ७.५२.१

"हमारी अपनों के प्रति प्रीति हो, परायों के प्रति भी प्रीति हो। हे अश्वी-देवो, तुम हमें संज्ञान या परस्पर मिल कर रहने का गुण प्रदान करो।"

यहाँ अश्वियुगल से पारस्परिक सहयोग की शिक्षा ग्रहण करने के लिए कहा गया है। (जैसे अश्वीदेव, सूर्य-चन्द्र, द्यावापृथिवी, प्राण-अपान आदि) दो हैं, और दोनों में इतना अधिक सामंजस्य है कि उसके बल पर वे अनेक महिमाशाली कृत्यों को करने में समर्थ होते हैं, वैसे ही हम मानवों में भी पारस्परिक सामंजस्य हो, यह वेद की प्रेरणा है।

सर्वभूतमैत्री

वैदिक स्तोता सर्वभूतमैत्री का आदर्श अपने सम्मुख रखता हुआ प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे दृते, हे सबके मनों से विद्वेषादि भावों का विदारण करने वाले प्रभो, आज मैं मैत्री का व्रत ग्रहण कर रहा हूँ, उस पर दृढ़ रहने का सामर्थ्य मुझे प्रदान कीजिये। सब भूत मुझे मित्र की दृष्टि से देखें, क्योंकि आज से मैं सब भूतों को मित्र की दृष्टि से देखने लगा हूँ। इस प्रकार हम सभी मानव एक-दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखा करें।

दृते दृंह मा, मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ यजु. ३६.१८

इस प्रकार मित्रता और सौहार्द का वेद यह उपाय बताते हैं कि हम दूसरों के प्रति अपने मन में मित्रता की भावना उत्पन्न कर लें। इसका प्रभाव उन पर यथासंभव अवश्य पड़ेगा और वे भी हमारे प्रति अपने मन में सौहार्द का भाव धारण करने लगेंगे। परिणाम यह होगा कि सारा विश्व परस्पर मैत्री के सूत्र में आबद्ध हो जायेगा। वेद का आदर्श है कि सब दिशाएं हमारी मित्र हों, कहीं भी कोई शत्रु न रहे—सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु, अथर्व १९.१५.६

अनमित्रं नो अधरात् अनमित्रं न उत्तरात्।
इन्द्रानमित्रं नः पश्चाद् अनमित्रं पुरस्कृधि॥ अथर्व. ६.४०.३

"दक्षिण दिशा में हमारा कोई अमित्र न हो, उत्तर दिशा में हमारा कोई अमित्र न हो, पश्चिम दिशा में हमारा कोई अमित्र न हो, पूर्व दिशा में हमारा कोई अमित्र न हो।"

वेद सबके प्रति प्रणय का व्यवहार करने की शिक्षा देता हुआ कहता है—

अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह॥ अथर्व. ७.१०५.१

अर्थात् हे मनुष्य, तू पुरुष-सुलभ कटु वाणी से दूर रह, दिव्य वाणी का वरण कर तथा समस्त मानवों के साथ प्रणय का व्यवहार कर।

द्वेष-निवारण

यदि दुर्भाग्य से कभी कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के प्रति या कोई राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र के प्रति विद्वेषोन्मुख हो भी जाये तो वेद के शब्दों में उसे भ्रातृ भाव का हाथ बढ़ाते हुए कहना चाहिए—

इदमुच्छ्रेयोऽवसानमागां
शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम्।
असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु
न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु॥ अथर्व. १९.१४

आओ, आज हम परस्पर गले मिल लें। अब तक जो कुछ ईर्ष्या, द्वेष, कलह, विध्वंस हमने किया है उसकी परम्परा को समाप्त कर दें। अब तक

भूमि पर, आकाश में, समुद्र में कहीं भी जाते हुए हमारे मनों में एक भय और सन्देह विद्यमान रहता था कि कहीं यहाँ शत्रु की सुरंगें न बिछी हों, कहीं शत्रु के हवाई जहाज हमें न गिरा दें, कहीं शत्रु की पनडुब्बियाँ हमारे जलपोत को विनष्ट न कर दें। पर आज से इस प्रकार की आशंकाओं का हम अवसान कर दें। अपने मनों से द्वेष और त्रास को निकाल दें। द्यावापृथिवी हमारे लिए उद्वेजक न रह कर कल्याणकर हो जायें। सब दिशाएं हमारे लिए शत्रुरहित हो जायें।

अव ज्यामिव धन्वनो मन्युं तनोमि ते हृदः।
यथा सम्मनसौ भूत्वा सखायाविव सचावहै॥
सखायाविव सचावहा अव मन्युं तनोमि ते।
अधस्ते अश्मनो मन्युमुपास्यामसि यो गुरुः॥ अथर्व. ६.४२.१,२

"हे भाई, तुम्हारे हृदय पर मेरे प्रति क्रोध ऐसा चढ़ा हुआ है, जैसे धनुष पर मौर्वी चढ़ी हुई हो। जैसे मौर्वी पर चढ़े हुए धनुष से शत्रु पर बाण छोड़ा जाता है, वैसे ही क्रोधाविष्ट हृदय से तुम मेरे ऊपर अनिष्ट के बाणों की बौछार करना चाह रहे हो।

परन्तु आज मैं तुम्हारे हृदय से क्रोध की डोरी को उतार कर रहूँगा। तुम्हारे भारी से भारी क्रोध को मैं अपने प्रेम रूपी पत्थर के नीचे दबा दूँगा। परिणामतः तुम भी मेरे प्रेम का मूल्यांकन कर अपने क्रोध को भुला दोगे और हम पुनः दो मित्रों के समान परस्पर व्यवहार करने लगेंगे।"

द्वेष-निवारण की निम्न वैदिक प्रार्थनाएं भी अपूर्व प्रेरणादायक हैं—

विश्वा द्वेषांसि प्रमुमुग्ध्यस्मत्। ऋ. ४.१.४

"हे प्रभो, हमारे अन्दर से समस्त द्वेषभाओं को पृथक् कर दो।"

यूयं द्वेषांसि सनुतर्युयोत। ऋ. २.२९.२

"हे देवपुरुषो, तुम द्वेषभावों को सदा ही हमसे दूर करते रहो।"

मा सो अस्मान् द्विक्षत मा वयं तम्। अथर्व. १२.२.३३

"न वह हमसे द्वेष करे, न हम उससे द्वेष करें।"

सब समृद्ध हों

वेद किसी एक व्यक्ति की, एक समाज की या एक राष्ट्र की नहीं, किन्तु सभी व्यक्तियों की, सभी समाजों की और सभी राष्ट्रों की समृद्धि चाहता है।

उसकी कामना है कि सभी दिशाओं के वासी फूलें, फलें, समृद्ध हों। एक प्रार्थना देखिए —

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः।
वृष्टे शापं नदीरिव इह स्फातिं समावहान्॥ अथर्व. ३.२४.३

अर्थात् ये जो पांच प्रदिशाएं (पूर्वादि चार तथा एक केन्द्र) हैं, तथा उनमें रहने वाले जो पंच मानव हैं, वे सभी इस प्रकार समृद्धि को प्राप्त करें, जिस प्रकार वर्षा होने पर नदियाँ जल की बाढ़ को प्राप्त करती हैं। यहाँ समृद्धि के लिए नदियों की उपमा कैसी सुन्दर है।

सबका मंगल हो

वेद का स्तोता केवल अपना ही नहीं, किन्तु सभी का मंगल चाहता है। यहां तक कि पशु-पक्षियों तक की स्वस्ति का उसे ध्यान है।

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु
स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः ॥ अथर्व. १.३१.४

"माताओं का मंगल हो, पिताओं का मंगल हो, पुरुषों का मंगल हो, सब जगत् का मंगल हो।"

अस्माकं देवा उभयाय जन्मने
शर्म यच्छत द्विपदे चतुष्पदे।
अदत् पिबदूर्जयमानमाशितं
तदस्मे शंयोररपो दधातन ॥ ऋ. ५०.३७.१२

"हे देवो, द्विपात्-चतुष्पात् दोनों प्रकार के जीवों का कल्याण करो। हम सबको ऐसा सुख और आरोग्य प्रदान करो कि प्रत्येक जीव खाता, पीता तथा बल के कार्य करता रहे।"

निम्न वैदिक प्रार्थनाएं भी सर्वभूतहित की भावना पर प्रकाश डालती हैं—

सर्वमिज्जगद् अयक्ष्मं सुमना असत् । यजु. १६.४

"सारा ही जगत् रोगरहित तथा स्वस्थ मन वाला हो।"

विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम् । यजु. १६.४८

"इस समाज में सभी हृष्टपुष्ट तथा नीरोग रहें।"

वेदों की अधिकतर प्रार्थनाएं 'नः', 'अस्मभ्यम्', आदि बहुवचनान्त शब्दों द्वारा की गई हैं। इसका कारण भी यही है कि वेद का स्तोता केवल अपना स्वार्थ नहीं देखता, किन्तु उसके अन्दर विश्वबन्धुत्व की भावना होने से वह कल्याणप्राप्ति में सभी को साझी बनाना चाहता है। प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र में सविता देव से बुद्धियों को सन्मार्ग में प्रेरित करने की याचना सभी के लिए है। 'यद् भद्रं तन्न असुव' में सविता से भद्र-प्राप्ति की प्रार्थना भी सभी के लिए की गयी है। 'उद्वयं तमसस्परि' में तामसिकता से मुक्त होकर ज्योति में जाने की कामना भी सब के लिए है। 'वयं सर्वेषु यशसः स्याम' में यशस्विता की प्रार्थना 'अगन्महि मनसा सं शिवेन' में शुभमनस्कता की प्रार्थना, 'अस्मान् पुनीहि चक्षसे' में पवित्रता की प्रार्थना, 'अप नः शोशुचदघम्' में पाप शोषण की प्रार्थना, 'स्वस्ति नो अभयं मनः' में स्वस्ति तथा निर्भयता की प्रार्थना, 'वयं मधुमन्तः स्याम' में माधुर्य की प्रार्थना, 'शं च नो मयश्च नः' में सुख-शान्ति तथा आरोग्य की प्रार्थना, 'वयं स्याम पतयो रयीणाम्' में धनपति होने की प्रार्थना, 'ऋतमस्माकं तेजोऽस्माकम्' में ऋत और तेज की प्रार्थना, 'परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु' में मृत्यु-विनाश तथा अमरत्व की प्रार्थना तथा 'वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः' में इन्द्र के प्रिय बनने की प्रार्थना भी सबके लिए ही है।

क्वचित् 'अहं, 'मे' 'मम', 'मह्यम्' आदि एकवचनान्त शब्दों से प्रार्थना है भी तो वह इस लिए कि एक-एक व्यक्ति के गुणवान् होने से अन्ततः समाज ही गुणी होता है। बहुत से वेदमन्त्रों में तो ऐसा भी है कि प्रथम अपने लिए प्रार्थना की गई है, तो उसका उपसंहार बहुजनहिताय में ही किया गया है। यथा—

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मेतद् दधातु।
शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ।। यजु. ३६.२

यहाँ कोई व्यक्ति अपने चक्षु, हृदय तथा मन के दोषों को दूर करने की प्रार्थना करता है। व्यक्तिगत दोषनिवारण होने पर लाभ समष्टि का ही होगा, अतः मन्त्र के उपसंहार में वह कहता है कि भुवनपति प्रभु हम सभी को सुख-शान्ति प्रदान करें।

परोपकार का आदर्श

वेदों में विश्वबन्धुत्व की भावना होने का एक यह प्रमाण भी है कि परोपकार तथा दान वैदिक संस्कृति के प्रमुख अंग हैं। ऋग्वेद में दानस्तुति के अनेक सूक्त आये हैं। यदि कहीं कोई संकटापन्न मानव दिखाई देता है तो वैदिक दृष्टि में हमारा कर्तव्य है कि हम उसकी सहायता करें। वेद का आदेश है कि समृद्ध को चाहिए कि वह निर्धन को अवश्य दान करे। दान की भावना जगाने के लिए श्रुति कहती है कि संभव है कल तुम गरीब हो जाओ तथा तुम्हें दूसरों के दान की आवश्यकता अनुभव होने लगे। संपत्तियां तो रथ के चक्र के समान घूमती हैं तथा एक को छोड़ कर दूसरे के समीप जाती रहती हैं।

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्
द्राघीयांसमनुपश्येत पन्थाम्।
ओहि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा-
अन्यमन्यमुपतिष्ठन्त रायः ।। ऋ. १०.११७.५

वेद की घोषणा है कि अकेला खाने वाला पाप का ही भागी होता है—केवलाघो भवति केवलादी (ऋग् १०.११७.६) अतएव वैदिक उपासक पूषा प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे पूषन् प्रभो, जिसकी दान की प्रवृत्ति नहीं है उसे आप दान के लिए प्रेरित कीजिए। आप कृपण के कठोर मन को मृदु कर दीजिए, जिससे वह दुखिया को देख कर पसीजे।

अदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन् दानाय चोदय।
पणेश्चिद् वि म्रदा मनः।। ऋ. ६.५३.३

वेद कहते हैं कि जो आपद्ग्रस्त की धन, अन्न आदि से सहायता नहीं करता प्रत्युत उसके सामने ही स्वयं भोग करने में संलग्न रहता है, वह अन्ततः सुखी नहीं हो सकता।

य आध्राय चकमानाय पित्वो-
ऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरो-
तो चित् स मर्डितारं न विन्दते।। ऋ. १०.११७.२

जनसंहार न हो

आज अधिकतर राष्ट्र एक-दूसरे को नीचा दिखाना चाहते हैं। शस्त्रास्त्रों की होड़ लग रही है। ऐसे-ऐसे संहारक अणु-गोलों का अविष्कार हुआ है कि एक ही गोले से देश के देश विध्वस्त हो जायें। परन्तु वेद को यह स्थिति वांछनीय नहीं है। वेद कहता है —

> यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।
> शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत्॥ यजु. १६.३

"हे रुद्र, हे शक्तिधर, तुझे तो 'गिरिशन्त' और 'गिरित्र' अर्थात् लोकरक्षक होना चाहिए —गिरिषु पर्वतवदुन्नतेषु राष्ट्रेषु शं कल्याणं तनोतीति गिरिशन्तः। गिरीन् राष्ट्राणि त्रायते इति गिरित्रः। तूने अपनी शक्ति के मद में आकर फेंकने के लिए जो इषु, जो भयंकर अस्त्र हाथ में पकड़े हुए हैं, उन्हें शिव बना, उनका संसार के हित के लिए उपयोग कर। उनसे तू निरीह पुरुषों का और जगत् का संहार मत कर।"

> प्रमुञ्च धन्वनस्त्वम् उभयोरार्त्न्योर्ज्याम्।
> याश्च ते हस्त इषवः परा ता भगवो वप॥ यजु. १६.६

"तूने जो धनुष की दोनों कोटियों पर प्रत्यंचा चढ़ाई हुई है, उसे खोल दे और जो चलाने के लिए बाण पकड़े हुए हैं, उन्हें दूर रख दे, अर्थात् जो युद्ध की तैयारी कर ली है, उससे उपरत हो जा।"

वेदों की शान्तिप्रियता

वेदों को शान्ति इतनी अधिक प्रिय है कि कई सम्पूर्ण सूक्त शान्ति का आवाहन करने वाले हैं। देवों से, मानवों से, प्रकृति की एक-एक वस्तु से शान्ति की पुकार की गयी है।

> शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु
> शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु।
> शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु
> शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः॥ ऋ. ७.३५.८, अथर्व. १९.१०.८

"यह विस्तीर्ण प्रकाश का गोला सूर्य हम मानवों लिए के शान्ति लाता हुआ उदित हो। चारों दिशाएं हमारे लिए शान्ति को विकीर्ण करें। ये अचल पर्वत हमें शान्ति का सन्देश सुनाएं। ये समुद्र और नदियाँ भी हमें शान्ति का पाठ पढ़ायें।"

> शान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी शान्तमिदमुर्वन्तरिक्षम्।
> शान्ता उदन्वतीरापः शान्ता नः सन्त्वोषधीः॥ अथर्व. १९.९.१

"तेजोमय द्युलोक हमारे लिए शान्ति का सन्देशवाहक हो। यह विस्तृत अन्तरिक्ष हमें शान्ति की प्रेरणा दे। ये शीतल सलिल वाली धाराएं हमें शान्ति का गान सुनाएं और ये प्रसूनों तथा फलों वाली ओषधि-वनस्पतियाँ हमारे लिए शान्ति के राग गायें।"

> इयं या परमेष्ठिनी वाग् देवी ब्रह्मसंशिता।
> ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः॥
> इदं यत् परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम्।
> येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः॥

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि

मनः षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि ।

यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः ।। अथर्व. १९.८.३-५

मनुष्य के अन्दर विद्यमान वाणी और मन परमेष्ठी हैं, परम पद पर स्थित हैं, परम शक्तिशाली हैं। पर इनके दुरुपयोग के कारण कभी-कभी मानव मानव का शत्रु बन जाता है, उसके रक्त का पिपासु हो जाता है। मन सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ भी मनुष्य के लिए अद्भुत देन हैं। पर इनका भी सम्यक् प्रयोग न करने से बड़े घोर परिणाम उत्पन्न हो जाते है। वेद की प्रेरणा है कि इन वाक्, मन तथा इन्द्रियों को हम ज्ञान से तीक्ष्ण कर लें जिससे ये पारस्परिक कलह के कारण न बन कर संसार में शान्ति का साम्राज्य लाने वाले हों।

युद्ध क्यों ?

अब तक जो कुछ लिखा गया है वह वेदों की विश्वबन्धुत्व की भावना को प्रकाशित करता है। परन्तु यहाँ एक शंका उपस्थित होती है। वह यह है कि यदि वेद विश्वबन्धुत्व तथा सार्वजनिक हित के ही समर्थक हैं तो उनमें पग-पग पर भीषण युद्ध, शत्रुवध, आत्मविजय आदि के वर्णन क्यों आये हैं? वेदों के प्रमुख देवता इन्द्र के शत्रुविजय के इतिहास से वेदों के पृष्ठ के पृष्ठ क्यों रंगे पड़े हैं? इसका उत्तर भी कठिन नहीं है। वेद के युद्ध-वर्णनों में एक बात विशेष रूप से यह द्रष्टव्य है कि सर्वत्र देवों को राक्षसों के विरुद्ध अभियान के लिए प्रेरित किया गया है। ऐसा एक भी स्थल नहीं है जहां देवों को देवों के विरोध में उकसाया गया हो। इन राक्षसों को यातुधान, पिशाच, क्रव्याद्, रक्षस्, दास, वृत्र, दस्यु, शुष्ण, शम्बर, नमुचि आदि शब्दों से स्मरण किया गया है। यातुधान वे हैं जो निर्दोष लोगों को भयंकर यातनाएं देते हैं। पिशाच तथा क्रव्याद् वे हैं जो मनुष्यों का तथा गौ, अश्व आदि उपयोगी जन्तुओं का कच्चा मांस तक खा जाते हैं। रक्षस् या राक्षस वे हैं जिनके भीषण उपद्रवों से समाज असुरक्षित हो जाता है तथा उसे रक्षा की आवश्यकता पड़ती है। दास वा दस्यु वे हैं जो सज्जनों का व्यापक रूप में उपक्षय करते हैं। वृत्र वे हैं जो सत्य, न्याय, दया आदि के प्रकाश को ढक कर तामसिकता उत्पन्न कर देते हैं। शम्बर वे हैं जो उत्पात और हिंसा का जाल फैला कर शान्ति भंग करते हैं। शुष्ण वे हैं जो सत्पुरुषों के शोषण में निरत रहते हैं। नमुचि वे हैं जो सज्जनों को अपनी दुष्टता से दूषित करने के लिए ऐसे चिपट जाते है कि छोड़ते ही नहीं। ये सब वे राक्षस हैं जो साम, दान, भेद इन तीनों उपायों का अवलम्बन करने पर भी अपने राक्षसी स्वभाव का परित्याग नहीं करते। अतः "चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ सान्त्वमपक्रिया" की नीति के अनुसार इनके प्रति दण्ड का प्रयोग आवश्यक होता है। अतः इन आसुरी सम्पत् वालों पर विजय प्राप्त करने के लिए दैवी सम्पत् वालों को वेद प्रोत्साहित करते हैं, जैसे श्री कृष्ण ने गीता में अर्जुन को प्रोत्साहित किया है। ये युद्ध शान्ति की स्थापना के लिए ही होते हैं। साथ ही अध्यात्मक्षेत्र में ये असुर काम, क्रोध आदि हैं, जिनसे अध्यात्म-पथ के पथिक को अहर्निश युद्ध करना पड़ता है। अतएव उन पर विजय पाने के लिए भी मानव को प्रेरित किया गया है।

वेदों के युद्ध-परक वर्णनों को इसी रूप में लेना उचित है। अतः इनसे वेदों की विश्वबन्धुत्व की भावना में कोई अन्तर नहीं आता।

राजा और प्रजा का नूतन नगरी में प्रवेश

(अथर्ववेद १६.१६ के आधार पर)

एक ओर पुरोहित विराजमान है, दूसरी ओर राजा और प्रजा नूतन नगरी में प्रवेश की दीक्षा के लिए खड़े हैं। पुरोहित का स्वर सुनाई देता है—

मित्रः पृथिव्योदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु[1] ॥१॥

"पृथिवी एक नगरी है। मित्र[2] अर्थात् अग्नि उस का राजा है। वह पृथिवी रूपी नगरी के साथ सब प्रकार से उन्नत हुआ है। ऐसी ही नगरी में मैं तुम्हें प्रवेश कराता हूँ। मिल कर इसमें प्रवेश करो। यह नगरी तुम्हें सब सुख और रक्षायें प्रदान करती रहे।"

देखो, हे राजन् और प्रजा के प्रतिनिधियो, आज इस नूतन नगरी में प्रवेश के समय तुम्हें कुछ आदर्शों को अपने सामने रखना है। पहला आदर्श है मित्र और पृथिवी का। राजन्, तुम्हें प्रजा का सच्चा मित्र बनना है और मित्र नामक अग्नि की तरह प्रकाशमान, कार्यसाधक तथा ऊर्ध्वगामी होना है। तुम्हें अपनी नगरी को पृथिवी की तरह आदर्श बनाना है। पृथिवी नियमानुसार अपने अक्ष पर तथा सूर्य के चारों ओर गति कर रही है, ऐसे ही तुम अपनी नगरी को सतर्कता के साथ लक्ष्य के चारों ओर घुमाते रहो, उसे निष्क्रिय या जड़वत् न रहने दो। जिस नगरी में सब प्रकार की आवश्यक हलचलें होती रहती हैं, वही नगरी उन्नत होती है। तुम्हारी नगरी में पृथिवी जैसी नियम-व्यवस्था भी रहनी चाहिये। पृथ्वी में जैसा बीज डाला जाता है, वैसा ही उससे फल उपजता है। ऐसा कभी नहीं होता कि आम का बीज डालने पर अमरूद का फल पैदा हो, या आम का रद्दी बीज बोने पर

---

१. (मित्रः) अग्नि (पृथिव्या) पृथिवी के साथ (उदक्रामत) ऊंचा उठा हुआ है, (ता पुरं) उसी नगरी में (वः प्रणयामि) मैं तुम्हें ले जाता हूँ। (ताम् आविशत) उसमें प्रवेश करने के लिए आओ, (तां प्रविशत) उसमें प्रवेश करो (सा) वह नगरी (वः) तुम्हें (शर्म च वर्म च) सुख और रक्षा (यच्छतु)। प्रदान करे।

१. यद्यपि मित्र का प्रचलित अर्थ सूर्य होता है तो भी यहां मित्र का अर्थ अग्नि लेना चाहिए क्योंकि वह पृथिवी के साथ पढ़ा गया है और पृथिवी का राजा अग्नि है, और सूर्य का उल्लेख आगे तीसरे मन्त्र में पृथक् आ भी गया है। —सायण

बढ़िया आम पैदा हो। इसी प्रकार नगरी में भी कर्मानुसार फल-व्यवस्था होनी चाहिये। अच्छे कर्म करने वाले को प्रोत्साहन और पाप-कर्म करने वाले को दण्ड मिलना चाहिये। पृथिवी में यह गुण भी है कि वह समयानुसार अपने वातावरण में परिवर्त्तन ले आती है, उस पर ऋतु-परिवर्त्तन हुआ करते हैं, वह गर्म, ठण्डी, शीतोष्ण आदि होती रहती है। वैसे ही तुम्हारी नगरी जब शांति की आवश्यकता हो तब शांत रहे, किन्तु जब शत्रु उसके सिर पर हो और उसे गर्म तथा प्रचण्ड होने की आवश्यकता दीखे तब प्रचण्ड हो उठे। पृथिवी में चट्टानों की कठोरता भी है, फूलों की मृदुता भी है, स्थिरता भी है, गति भी है; ऐसी ही तुम्हारी नगरी में होनी चाहिये। पृथिवी पर जैसे रक्षक पहाड़ खड़े चौकसी कर रहे हैं, वैसे ही तुम्हारी नगरी में शूरवीर क्षत्रिय रक्षा के लिए सन्नद्ध रहने चाहियें। पृथिवी पर जैसे सञ्चयशील समुद्र या सोना-चांदी की खानें विद्यमान हैं, वैसे ही तुम्हारी नगरी में संचयशील वैश्य होने चाहियें। पृथिवी पर जैसे परहित के लिए अपना सर्वस्व अर्पित कर देने वाली वृक्ष-वनस्पतियाँ लहरा रही हैं, वैसे ही तुम्हारी नगरी में ब्राह्मण-वृत्ति के पुरुष होने चाहियें। इन सब शिक्षाओं को तुम पृथिवी के दृष्टांत से ग्रहण करो, तुम्हारी नगरी परम शोभामयी हो जायेगी।

उत्तर में राजा और प्रजा सिर झुका देते हैं और कहते हैं, ऐसा ही होगा ब्रह्मन्, हम आप के आदेश का यथाशक्ति पालन करेंगे।

पुरोहित का स्वर पुनः मुखरित होने लगता है—

वायुरन्तरिक्षेणोदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥२॥

'वायु राजा है, अन्तरिक्ष नगरी है। कैसा उन्नत यह राज्य है। ऐसी ही नगरी में मैं तुम्हें प्रवेश कराता हूँ। मिल कर उसमें प्रवेश करो। यह नगरी तुम्हें सब सुख और रक्षायें प्रदान करती रहे।'

हे राजन्, तुम्हें वायु के समान बनना चाहिये। वायु जैसे सब को प्राण देने वाला है, ऐसे ही तुम्हें प्रजा के लिए प्राणदायक होना चाहिये। पक्षी रूपी प्रजाओं को अन्तरिक्ष रूपी नगरी में उड़ने के लिए वायु सहायक होता है, उसी प्रकार राष्ट्र में उन्नति के लिए पंख फड़फड़ाती हुई प्रजाओं का तुम्हें सहायक होना चाहिये। साथ ही तुम्हारी नगरी को अन्तरिक्ष की तरह विशाल और उज्ज्वल होना चाहिये। अन्तरिक्ष-नगरी में जैसे वर्षा की पवित्र धाराओं का स्रोत विद्यमान है, वैसे ही तुम्हारी नगरी से भी अमृत की धारायें प्रवाहित होनी चाहिए। गगन के समान विस्तीर्ण, उज्ज्वल और अमृतमयी तुम्हारी नगरी हो, उसमें वायु के समान राजा राज्य करता हो, यह मेरा एक स्वप्न है, जिसे तुम पूर्ण करो।

उत्तर में राजा और प्रजा सिर झुका देते हैं और कहते हैं, ऐसा ही होगा ब्रह्मन्, आप का स्वप्न पूरा होगा।

पुरोहित फिर कहना आरम्भ करता है—

सूर्यो दिवोदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥३॥

'सूर्य राजा है, द्यौ रूपी नगरी है। ऐसी ही नगरी में मैं तुम्हें प्रवेश कराता हूं। मिल कर उसमें प्रवेश करो। यह नगरी तुम्हें सब सुख और रक्षायें प्रदान करती रहे।'

राजन्, तुम्हें सूर्य के समान बनना होगा। सूर्य कितना तेजस्वी है, अपने तेज से सारे सौर जगत् को प्रकाशित कर रहा है, सब ग्रह-उपग्रह उसी के प्रकाश से चमक रहे हैं। इस भूलोक में भी जितना ताप-प्रकाश है, सब उसी से आया है। ऐसे ही तुम्हें तेजःपुञ्ज बनना होगा और अपने तेज से एक-एक प्रजा को प्रकाशित करना होगा। तुम्हारी एक-एक प्रजा एक-एक लोक के समान है। उसमें तुम्हारा प्रकाश पहुंचना चाहिए। तुम्हें सूर्य बन कर अज्ञान, अविद्या, अविवेक आदि के अन्धकार को मिटाना होगा। तुम सूर्य बनो, नगरी द्यौ बने और इस प्रकार सदा अपूर्व तेज के साथ उदयीमान होते रहो।

उत्तर में राजा और प्रजा सिर झुका देते हैं और कहते हैं, ऐसा ही होगा ब्रह्मन्, आप का आशीर्वाद पूर्ण होगा।

पुरोहित के शब्द पुनः गूंज उठते हैं—

चन्द्रमा नक्षत्रैरुदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः।
तामविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ।।४।।

'चन्द्रमा राजा है, नक्षत्र उसकी प्रजायें हैं, उन के साथ वह अपनी नगरी में शासन कर रहा है। ऐसी ही नगरी में मैं तुम्हें प्रवेश कराता हूँ। मिल कर प्रवेश करो। यह नगरी तुम्हें सब सुख और रक्षायें प्रदान करती रहे।'

राजन्, तुम जहाँ सूर्य की तरह प्रतापी हुए हो, वहाँ तुम्हें चन्द्रमा के समान मधुर, सौम्य, शीतल और आह्लादक भी बनना होगा। तुम ऐसे चन्द्रमा बनो कि सब प्रजारूपी शिशु तुम्हारे पास पहुँचने के लिए या तुम्हें अपने बीच पाने के लिए लालायित रहें। जैसे सिंह-व्याघ्र से मनुष्य दूर रहना चाहता है और डर कर भागता है, वैसे प्रजायें तुम से दूर भागना न चाहें। प्रजा के साथ तुम्हारा वात्सल्य-पूर्ण सम्बन्ध होना चाहिए। और हे प्रजाओ, जहाँ तुम्हारे राजा को चन्द्रमा बनना है वहाँ तुम्हें भी नक्षत्र बन कर दिखाना है। एक-एक प्रजा को ज्ञान, कर्म, उत्साह, चारित्र्य आदि में नक्षत्र की तरह चमकना चाहिए। जैसे नक्षत्र टिमटिमाते हुए अपनी ज्योति दिखाते हैं, ऐसे ही प्रत्येक प्रजाजन को उत्साह से स्फुरित होते हुए प्रत्येक कार्य में अपना तेज प्रकट करना चाहिए।

उत्तर में राजा और प्रजा सिर झुका देते हैं और कहते हैं, ऐसा ही होगा ब्रह्मन्, आपके वचन सत्य होंगे।

पुरोहित फिर कहता है—

सोम ओषधीभिरुदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ।।५।।

'सोम राजा है, ओषधियाँ उस की प्रजायें हैं, उन के साथ वह नगरी बसाए हुए है। ऐसी ही फूलती-फलती नगरी में मैं तुम्हें प्रवेश कराता हूँ। मिल कर उस में प्रवेश करो। वह नगरी तुम्हें सब सुख और रक्षायें प्रदान करती रहे।'

राजन्! तुम्हें भिषजराज 'सोम' बनना होगा, और हे प्रजाओ, तुम्हें भी 'ओषधियाँ' बनना होगा, और इस प्रकार सारी नगरी एक फूलती-फलती, हरी-भरी वाटिका बनेगी। ओषधियों का और ओषधियों के राजा सोम का कार्य है संसार में रोग, पीड़ा, दुःख-दर्द को नष्ट कर के सुख-शान्ति लाना। ऐसे ही तुम राजा-प्रजाओं को मिल कर नगरी में से समस्त रोगों और संतापों को दूर भगाना होगा। ऐसी अवस्था लानी होगी कि कोई भी किसी व्याधि से ग्रस्त न हो और यदि कोई अकस्मात् व्याधिग्रस्त हो भी जाये तो वह शीघ्र ही स्वस्थ हो जाये। राजन्, तुम सोम बन कर प्रजाओं का सन्ताप हरो, और प्रजाओ, तुम 'ओषधि' बन कर प्रणियों का दुःख दूर करो।

उत्तर में राजा और प्रजा सिर झुका देते हैं और कहते हैं, ऐसा ही होगा ब्रह्मन्, आपकी मनोभिलाषा पूरी होगी।

पुरोहित का कण्ठ-रव फिर गूंजने लगता है—

यज्ञो दक्षिणाभिरुदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥६॥

'यज्ञ राजा है, दक्षिणायें उसकी प्रजा हैं। दक्षिणाओं से ही यज्ञ की सफलता है। ऐसी यज्ञ और दक्षिणामय नगरी में ही मैं तुम्हें प्रवेश कराता हूँ। मिल कर इस में प्रवेश करो। यह नगरी तुम्हें सब सुख और रक्षायें प्रदान करती रहे।'

हे राजन्, राष्ट्र एक यज्ञ है, और दक्षिणाओं से ही सफल होता है, इस लिए राष्ट्र की सफलता दक्षिणाओं पर ही निर्भर है। अतः आवश्यक है कि राष्ट्र नगरी में राजा की ओर से प्रजा की ओर निरन्तर दान की धारा प्रवाहित होती रहे और प्रजा भी परस्पर व्यवहार में दान-भाव को ग्रहण करे। तभी यह नगरी सुख-समृद्धि से युक्त बन सकेगी।

उत्तर में राजा और प्रजा सिर झुका देते हैं, और कहते हैं, ऐसा ही होगा ब्रह्मन्, आपकी आशायें फलीभूत होंगी।

पुनः पुरोहित कहना आरम्भ करता है—

समुद्रो नदीभिरुदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥७॥

'समुद्र राजा है, नदियाँ प्रजायें हैं, उनकी अपनी एक नगरी है। ऐसी ही नगरी में मैं तुम्हें प्रवेश कराता हूँ। मिल कर इस में प्रवेश करो। यह नगरी तुम्हें सब सुख और रक्षायें प्रदान करती रहे।'

राजन्, तुम्हें समुद्र जैसा बनना है। समुद्र नदियों से जल लेकर अपने कोष को भरता रहता है, वैसे ही तुम प्रजाओं से कर ले कर अपने राजकोष को विशाल बनाना। किन्तु समुद्र वह सब जलराशि-कोष सदा अपने ही पास नहीं रखे रहता, वह अपने जल को बाष्प बन जाने देता है और बादल बना कर फिर नदियों पर बरसा देता है। वैसे ही तुम भी प्रजाओं से कर ले लेकर उन्हीं की सुख समृद्धि के लिए

उसका व्यय करते रहना। तुम समुद्र बनना, प्रजायें नदियां बनेंगी। प्रजाओं से धन-प्रवाह तुम्हारी ओर आयेगा, तुम प्रजाओं की ओर उसे प्रवाहित करते रहना। तुम्हारी नगरी आदर्श नगरी बन जायेगी।

उत्तर में राजा और प्रजा सिर झुका देते हैं और कहते हैं, ऐसा ही होगा ब्रह्मन्, आपके आशीष सत्य होंगे।

पुरोहित के वचन फिर प्रवृत्त होते हैं—

ब्रह्म ब्रह्मचारिभिरुदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥८॥

'ब्रह्म राजा है, ब्रह्मचारी उसकी प्रजायें हैं। वह इस ब्रह्मांड रूपी नगरी में शासन कर रहा है। ऐसी ही नगरी में मैं तुम्हें प्रवेश कराता हूँ। मिल कर इस में प्रवेश करो। यह नगरी तुम्हें सब सुख और रक्षायें प्रदान करती रहे।'

ब्रह्म परमेश्वर है, वह ब्रह्मांड रूपी नगरी पर राज्य कर रहा है। उस की प्रजा है ब्रह्मचारी अर्थात् ब्रह्म के नियमों के अनुसार चलने वाले लोग। राजन्, तुम्हें भी ब्रह्म के समान महान् बनना होगा और तुम्हारी प्रजाओं को बनना होगा ब्रह्मचारी—ब्रह्म के आदेशों का पालन करने वाला। तभी तुम्हारा राज्य प्रतिष्ठित होगा।

उत्तर में राजा और प्रजा सिर झुका देते हैं और कहते हैं, ऐसा ही होगा ब्रह्मन्, आपकी सदिच्छाओं को हम पूर्ण करेंगे।

पुरोहित का शब्द फिर ध्वनित होता है—

इन्द्रो वीर्येणोदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥९॥

देवों का राजा इन्द्र है, वह सब से बड़ा कहलाता है। पर उस के इस बड़प्पन का कारण क्या है, यह क्या तुम जानते हो? उसके बड़प्पन का कारण है वीर्य, पराक्रम। इन्द्र के पराक्रम के ज्ञान से सब वेद-शास्त्र भरे पड़े हैं। वह बड़ी से बड़ी बाधा की परवाह नहीं करता, सब को कुचलता हुआ आगे बढ़ता जाता है। वेद के अनुसार वह सैकड़ों असुरों का संहार करने वाला है। ब्राह्मण-कार कहते हैं कि उसका नाम इन्द्र इसी लिए है क्योंकि वह 'इस शत्रु का विदारण करता है, उस शत्रु का विदारण करता है'—इदं दृणाति, इदं दृणाति। ऐसा ही वीर्यवान् और पराक्रमी, हे राजन्, तुम्हें भी बनना है। तुम्हारे राज्य पर जो भी शत्रु आक्रमण करने आये उस का अपने वज्र से विदारण कर डालो। ऐसे 'इन्द्र' तुम बनोगे, तभी तुम्हारी नगरी स्वर्गपुरी बन सकेगी।

उत्तर में राजा और प्रजा सिर झुका देते हैं और कहते हैं, ऐसा ही होगा ब्रह्मन्, आपके मुखारविन्द से निकले वचन सत्य होंगे।

पुरोहित पुनः कहता है—

देवा अमृतेनोदक्रामन् तां पुरं प्रणयामि वः।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥१०॥

देवता सबसे ऊंचे कहलाते हैं। किन्तु क्या तुम्हें मालूम है कि उनकी इस उच्चता का कारण क्या है? वह है 'अमृत', अमरत्व। उन्होंने वीर रस का अमृत पान किया हुआ है, इस कारण उन्हें कोई मार नहीं सकता। इस लिए हे प्रजाओ, जैसे तुम्हारे राजा को इन्द्र बनना है वैसे ही तुम्हें वीरता के 'अमृत' का पान करके देव बनना है। फिर तुम्हें कोई पराजित नहीं कर सकेगा।

उत्तर में राजा और प्रजा सिर झुका देते हैं और कहते हैं, ऐसा ही होगा ब्रह्मन्, आप की शुभकामना को हम चरितार्थ करेंगे।

पुरोहित का गम्भीर स्वर एक बार फिर सुनाई देता है—

प्रजापतिः प्रजाभिरुदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥११॥

राजा प्रजापति होता है। राजा की उन्नति प्रजाओं पर निर्भर है। प्रजा उन्नत होगी तो राजा भी उन्नत कहलायेगा, प्रजा का अधःपतन होगा तो राजा भी अधः-पतित कहलायेगा। इस लिए हे राजन्, प्रजाओं को ऊंचा उठाने में ही तुम अपना गौरव समझो। प्रजा का पोषण करो, न कि शोषण। मत भूलो कि तुम प्रजापति हो, प्रजा रक्षक हो। तुम्हारी प्रजा का कल्याण होगा, तुम्हारा कल्याण होगा, राष्ट्र का गौरव बढ़ेगा, नगरी समृद्ध होगी।

उत्तर में राजा और प्रजा सिर झुका देते है और कहते हैं, ऐसा ही होगा ब्रह्मन् आपके एक-एक आदेश का हम पालन करेंगे।

(दुन्दुभि वज उठती है, जयजयकार होते हैं, गीतों और वाद्यों के साथ राजा-प्रजा, नूतन नगरी में प्रवेश करते हैं।)

(यह रचना अथर्ववेद के उन्नीसवें कांड के उन्नीसवें सूक्त के आधार पर लिखी गई है। प्राचीन विनियोगकारों ने इस सूक्त का विनियोग इसी रूप में किया है कि जब राजा और प्रजा नूतन नगरी में प्रवेश करने लगें तब इसका पाठ करना चाहिये।)

त्वां स्तोमा अवीवृधन् त्वामुक्था शतक्रतो।
त्वां वर्धन्तु नो गिरः॥ ऋ. १.५.८॥

पदार्थ—हे (शतक्रतो) सृष्टि-निर्माण, पालन पोषणादि असंख्यात कर्म-कर्त्ता और अनन्त ज्ञानस्वरूप प्रभो! जैसे (स्तोमाः) सामवेद के स्तोत्र तथा (उक्था) पठन करने योग्य ऋग् वेदस्थ प्रशंसनीय सब मन्त्र (त्वाम्) आपको (अवीवृधीन्) अत्यन्त प्रसिद्ध करते हैं, वैसे ही (नः) हमारी (गिरः) विद्या और सत्य-भाषण युक्त वाणियें भी (त्वाम्) आपको (वर्धन्तु) प्रकाशित करें।

भावार्थ—हे सर्वशक्तिमन् जगदीश्वर पिता जी! सर्व वेद साक्षात् और परंपरा से आपकी महिमा को कथन कर रहे हैं। हम पर कृपा करो कि हम सब आपके पुत्रों की वाणियां भी, आपके निर्मल यश को गाया करें, जिससे हम सबका कल्याण हो।

दयानन्द संस्थान का वैदिक साहित्य

१. ऋग्वेद (६ मण्डल) महर्षि दयानन्द कृत भाष्य

ग्रंथ १०×१५ इंच के ६०४ पृष्ठों में है। सुनहरी कपड़े की जिल्द वजन लगभग ३ किलो है। : मन्त्र शब्दार्थ—भावार्थ सहित

पुस्तकालय संस्करण : मूल्य ७५)
आर्ट पेपर पर उपहार संस्करण : मूल्य १५१)

२. ऋग्वेद (७-१० मण्डल)
सुनहरी जिल्द (१०×१५ इंच साइज, पृष्ठ ५०० से अधिक)

पुस्तकालय संस्करण : मूल्य ७१)
उपहार संस्करण : मूल्य १५१)

३. यजुर्वेद-सामवेद भाष्य—पृष्ठ ४८०। साइज १०×१५ इन्च। वजन लगभग २ किलो। भाष्यकार महर्षि दयानन्द सरस्वती—आचार्य वैद्यनाथ सास्त्री।

पुस्तकालय संस्करण : मूल्य ७१)
उपहार संस्करण : मूल्य १५१)

४. अथर्ववेद भाषा भाष्य। १०×१५ इन्च के ४५६ पृष्ठ।

सुनहरी जिल्द, पुस्तकालय सस्करण मूल्य ७१)
उपहार संस्करण : मूल्य १५१)

५. ऋग्वेद भाष्य सम्पूर्ण—मूल्य १२५)
६. यजुर्वेद+सामवेद+अथर्ववेद भाष्य—मूल्य १२५)
७. यजुर्वेद भाष्य महर्षि दयानन्द कृत सजिल्द मूल्य ४०)
८. अथर्ववेद परिचय : पं० विश्वनाथ विद्यामार्त्तण्ड। मूल्य ६)
९. सामवेद भाष्य सजिल्द मूल्य ४०)
प० विश्वनाथ विद्यामार्त्तण्ड का अनुपम आध्यात्मिक भाष्य सुनहरी जिल्द ३०)
१०. वैदिक गीता भाष्य सजिल्द मूल्य १५)

स्व० पं० आर्यमुनि कृत यह गीता भाष्य आज तक के सभी गीता भाष्यों में सर्वश्रेष्ठ है।

११. वेदांजलि सजिल्द मूल्य २५)

३६५ मन्त्रों का भाष्य, प्रतिदिन के स्वाध्याय के लिए अनुपम।
वैदिक विनय तीनों भाग का सुसम्पादित संस्करण

१२. अपने प्रभु से ! प्रार्थना सजिल्द मूल्य १०)

आर्याभिविनय के प्रथम भाग की विस्तृत व्याख्या। श्री ज्ञानी पिंडीदास जी के परिश्रम व स्वाध्याय का परिणाम।

१३. श्रीमद्दयानन्द प्रकाश : स्वामीजी का भक्तिपूर्ण जीवन

स्वामी सत्यानन्द जी की लेखनी का प्रसाद जिसे पढ़कर आप भाव विभोर हो जाएंगे। सजिल्द मूल्य १०)

१४. अथर्ववेदीय मन्त्र विद्या अज़िल्द मूल्य १०)
स्वामी ब्रह्ममुनि जी की अथर्ववेद में खोजों का अनुपम ग्रन्थ। सजिल्द मू. १०)
१५. उपनिषद् संग्रह : महात्मा नारायण स्वामीजी सजिल्द मूल्य ८)
पाँच उपनिषदों की अनुपम व्याख्या।

१६. वैदिक सत्संग पद्धति (हिन्दी) नया संस्करण मूल्य १)

इस पुस्तक में साप्ताहिक सत्संग के लिए सन्ध्या, प्रार्थना-मन्त्र, स्वस्तिवाचन-शान्ति प्रकरण और हवन के मन्त्रों का अर्थ सहित संग्रह उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त ईश्वर भक्ति के भजन, प्रातःकाल उठने के अवसर पर उच्चारित किये जाने वाले मन्त्र तथा अनेक भजन आदि दिए गए हैं।

१७. वैदिक अर्थनीति—श्रीपाद दामोदर सातवलकर। पृष्ठ ३२ (रायल साइज) मू. ४० पैसे

१८. वैदिक अर्थशास्त्र परिचय : पं० भारतेन्द्र नाथ। मू. १)

१९. क्या वेद में मांस भक्षण का विधान है ?
लेखक—आचार्य शिवतूजनजी, कानपुर मू. १)

२०. वेद और बाइबल—दीनानाथ सिद्धांतालंकार। मू. २)

इस पुस्तक में वेद और बाइबल की शिक्षाओं के सम्बन्ध में एक तुलनात्मक विवेचन है। इसमें पाठकों को वेद की गरिमा का तो ज्ञान होता ही है, साथ ही बाइबल में वर्णित धारणाओं और मान्यताओं के सम्बन्ध में भी वस्तुस्थिति का बोध हो जाता है। इसमें वेद मन्त्र और बाइबल के वचन दायें-बायें पृष्ठों पर साथ-साथ दिये गये हैं, जिससे बिना परिश्रम के भी आप दोनों की तुलना में समर्थ हो सकते हैं।

२१. मोक्ष का वैदिक मार्ग—आचार्य वैद्यनाथ व योगीराज पथिक मू. २)

इस पुस्तक के नाम से ही इसमें प्रतिपादित विषय स्पष्ट हो जाता है। पुस्तक के दोनों ही विद्वान् लेखकों ने मोक्ष की प्राप्ति के सम्बन्ध में वेद प्रणीत मार्ग की नितान्त ही सरल भाषा में व्याख्या की है।

२२. ईश्वर-भक्ति : स्वामी सर्वदानन्द सरस्वती, मू. १ रु० ५० पैसे

यह ग्रन्थ स्वामी सर्वदानन्द जी के चिन्तन का प्रतिदान है। ईश्वर भक्ति के सम्बन्ध में इस पुस्तक को महान् वैदिक विद्वान् की अनमोल कृति कहा जा सकता है। ग्रन्थ को पढ़कर प्रभु से मिलने की प्रेरणा स्वतः जाग जाती है।

२३. मां गायत्री मू. ५० पैसे

२४. धर्म का मार्ग : पं सुरेशचन्द्र विद्यालंकार मू. २)

२५. अमृतपथ : पं० दीनानाथ सिद्धांतालंकार सजिल्द मूल्य ५)

३६. वैदिक धर्म ही क्यों ? —महात्मा नारायण स्वामी मूल्य १)

प्रसिद्ध संत, विद्वान् विचारक महात्मा नारायण स्वामी जी का यह उपहार जन-जन के मन में वेद के प्रति वैदिक विचारों के प्रति आस्थावान बनाने में समर्थ है।

२७. महान् अनुपमेय : ऋषिराज स्वामी दयानन्द मूल्य १)५० पैसे

२८. धर्म का सार : ९ कथाएं मूल्य २)५० पैसे

लेखक—मंगलाप्रसाद पारितोषिक विजेता स्व० पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय।

इस पुस्तक में ९ कथाओं के माध्यम से लेखक ने धर्म का जो सजीव चित्रण जन साधारण के लिए प्रस्तुत किया है, उसे पढ़कर मन आनन्द से भर जाता है। सरल सीधे ढंग से गहन तत्वों को समझने-समझाने के लिए अपूर्व पुस्तक है। कथा वाचकों के लिए भी यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है।

२९. आर्याभिविनय : (काव्यमय व्याख्या) मूल्य २) ५०पैसे

प्रार्थना अनुपम, कविता हृदय ग्राही, भाषा सरस, बस पढ़िए और अपने में मग्न हो जाइए। जेब में रख सकें, सदा पढ़ सकें, ऐसी आकर्षक पुस्तक सभी दृष्टियों अपूर्व।

अन्य उपयोगी साहित्य

३०. ऋषि दयानन्द ने कहा था : मूल्य १)५० पैसे
३१. योगेश्वर श्रीकृष्ण : स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती
नया चतुर्थ संस्करण मूल्य १)
३२. यज्ञ प्रसाद : महात्मा आनन्द स्वामी जी मूल्य ३०

विवाह पर बांटने के लिए

३३. वैदिक गृहस्थाश्रम : विद्यामार्तण्ड पं० विश्वनाथ जी
विवाह पर भेंट करने योग्य अनुपम ग्रंथ। सजिल्द मूल्य ८)
३४. धरती का स्वर्ग : गृहस्थाश्रम : मूल्य ३)
लेखक—पं० शिवकुमार शास्त्री महामहोपदेशक सजिल्द मू. ३)५०

आर्य समाज सम्बन्धी साहित्य

३५. स्वामी दयानन्द (जीवन चरित्र) अजिल्द मूल्य ३)

आर्य जगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री जगदीश विद्यार्थी (स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती) व श्रीमती पंडिता राकेश रानी ने मानव उद्धारक ऋषि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र अत्यन्त ओज पूर्ण भाषा में इस ढंग से प्रस्तुत किया है कि इसे पढ़ने के उपरान्त आप स्वयं अनुभव करेंगे कि हम ऐसे प्रकाश पुंज का सामीप्य अनुभव कर रहे हैं, जो हमारे अन्तरतम को नव ज्योति प्रदान कर रहा है।

३६. ज्योति स्तम्भ मूल्य ८)
३७. आर्य क्रान्तिकारी : श्री बनारसी सिंह मूल्य ३)
३८. विश्व को आर्यसमाज का संदेश पं० भारतेन्द्र नाथ मूल्य ५० पैसे

इस लघु पुस्तक में आर्यसमाज द्वारा मानव मात्र के कल्याण से लिए प्रस्तुत सन्देशों को बड़ी ही ओजपूर्ण भाषा में प्रस्तुत किया गया है, जिसे पढ़कर आपको आर्यसमाज के सत्य रूप को जानने व समझने में सहायता मिलेगी। पुस्तक का ९ भाषाओं में अनुवाद हो चुका है।

महर्षि दयानन्द कृत ग्रंथ

३९. सत्यार्थ प्रकाश : १. प्रचार संस्करण बिना जिल्द मूल्य ४)
४०. " " २. राज संस्करण सजिल्द मूल्य ६)
४१. " " ३. उपहार संस्करण कपड़े की बढ़िया जिल्द बढ़िया कागज पर मूल्य ८)
४२. " " ४. अनुपम शताब्दी संस्करण १०×१५ इंच का बड़ा साइज मूल्य५१)
४३. " " ५. अनुपम शताब्दी संस्करण १०×१६ इंच सुनहरी जिल्द, आर्ट पेपर पर १०१)
४४. संस्कार विधि : (बड़ा साइज) सजिल्द मूल्य २०
४७. स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश मूल्य ४० पैसे
४८. मूर्तिपूजा की हानियां मूल्य ४० पैसे
४९. आर्योद्देश्य रत्नमाला मूल्य ४० पैसे

५०. बोध रात्रि (महाकाव्य) मूल्य ८

५१. गीत मंजरी (नया तीसरा संस्करण) मूल्य २.५०

यज्ञ एवं अन्य समारोहों के अवसर पर गाये जाने योग्त सैकड़ों भजनों और गीतों को इस पुस्तक में संकलित किया गया है। इसका प्रत्येक गीत हृदयस्पर्शी एवं प्रेरणादायी है।

५२. प्रार्थना सुमन : पं० चन्द्रभानु सिद्धान्तभूषण मूल्य १)

५३. वैदिक संध्या ३२ पृष्ठ मूल्य ४० पैसे

५४. श्रद्धांजलियां मूल्य १.५० पैसे

प्रचार पुस्तिकाएं (ट्रैक्ट)

इस ग्रन्थ में महर्षि दयानन्द सरस्वती को देश-विदेश के नेताओं, मनीषियों और विद्वानों द्वारा व्यक्त की गई श्रद्धाजलियां संकलित हैं। इन्हें पढ़कर महर्षि के साथ ही साथ आर्यसमाज द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में किए गए योगदान का भी परिचय मिलता है। पुस्तक का अधिकाधिक प्रचार ऋषि के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि है।

५५. आर्यसमाज क्या मानता है ? श्री मदनमोहन विद्यासागर, मूल्य ४० पैसे

५६. स्वामी दयानन्द की विशेषताएं : महात्मा नारायण स्वामी मूल्य ४० पैसे

५७. आर्यसमाज की विचारधारा : पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय मूल्य ४० पैसे

५८. आर्यसमाज की मान्यताएं : पं रामचन्द्र देहलवी मूल्य ४० पैसे

५९. विश्व को वेद का सन्देश : भारतेन्द्रनाथ मूल्य ४० पैसे

६०. आर्यसमाज के दस नियम : व्याख्या सहित मूल्य ४० पैसे

६१. निमन्त्रण आर्यसमाज का : स्व० पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, मूल्य ४० पैसे

६२. आर्यसमाज के १०० वर्ष : पं भारतेन्द्र नाथ मूल्य ४० पैसे

६३. सुख का मार्ग पं० भारतेन्द्र नाथ मूल्य ३० पैसे

६४. आर्य कौन ? प० हरिशरण सिद्धान्तालंकार, मूल्य ४० पैसे

६५. स्वास्थ्य का महान् शत्रु : अण्डा मूल्य ४० पैसे

६६. वेद महिमा मूल्य ४० पैसे

६७. उपनयन का महत्व मूल्य ४० पैसे

६८. स्वामी दयानन्द सरस्वती : सक्षिप्त जीवनी मूल्य ४० पैसे

दयानन्द संस्थान वेदमन्दिर नई दिल्ली-५

ओ३म् भूर्भुवः स्वः
तत्सवितुर्वरेण्यं
भर्गो देवस्य धीमहि
धियो यो नः प्रचोदयात् ।